...गरके एक प्रमुख क्षेत्र कबीर ... अधिकारियों द्वारा खोदवा दिये ... इस क्षेत्रके सड़ककी यह दुर्गति हो गयी है। खुदाईके चलते यहां हमेशा ... की स्थिति रहती है। कहा जाता है कि इसकी खुदाई टेलीफोन ... वालोंने केबुल बिछानेके लिए की थी। खुदाईके दौरान फावड़ेके प्रहारसे ... पाइप भी फट गये हैं। जिससे क्षेत्रके घरोंमें पानीका फोर्स कम हो गया है।

मांगें पूरी न होनेपर ...

कर्मचारी हड़ताल ...

पूर्व रेलवेके कर्मचारियोंकी मागें पूरी न होनेपर रेल कर्मचारी हड़ताल करेंगे। हड़ताल सन् १९७४ जैसा होनेकी बात कही गयी है। प्रथम दौरमें आंदोलनकी शुरूआत मुगलसराय रेल मंडलसे की जायगी। आंदोलनके क्रममें धरना, प्रदर्शन, घेराव तथा सभाका आयोजन किया जायगा।

पूर्व रेलवे मेंस यूनियनके अध्यक्ष श्री विमल डे ने बताया कि ठीकेदारी प्रथासे जहां एक ओर रेलवे को हानि हो रही हैं वहीं अधिकारियोंको व्यक्तिगत लाभ हो रहा है। उन्होंने बताया कि वर्तमान सरकार मजदूर विरोधी है। सरकार आंदोलनको कुचलनेके लिए नये हथकंडे अपना रही है, किन्तु रेल कर्मी सरकारका मुकाबला करने तथा आंदोलनको सफल बनानेके लिए गोली खानेके लिए भी तैयार हैं। श्री डे ने बताया कि पूरे देशमें तीन लाख तथा पूर्व रेलवेमें २० हजार ऐसे युवक हैं जिन्हें नौकरीसे हटाकर बेरोजगारकर दिया गया है।

उन्होंने बताया ठीकेदारोंके माध्यमसे कम्पनियोंसे ... हैं अगर ... प्रशासनसे ... जाता है। ... देशमें ३५ ... पटरी क्षति... पटरियोंकी ... १० वर्ष ... कर्मचारियों... ऐसे कर्म... भोजनकी ...

ट्रक-... कई यु...

मुगलस... शुक्रवारको ... जाने से ... गये। गंभी... कृपाशंकर ... अस्पतालमें ...

...पुरमें सशस्त्र व्यक्तियों ... युवतीका अपहरण

... ग्राममें शुक्रवारको ... व्यक्तियों द्वारा ... मक एक विवाहिता ... जानेका समाचार ...

... अज्ञातपय सशस्त्र व्यक्ति ... कार द्वारा युवतीके मायके ... घरमें घुसकर युवतीको ... तथा कारमें जबर्दस्ती ... युवतीके मायके वालों ... विरोध किये जानेपर ... जानसे मार देनेकी ... अपहरणकर्ता मुहंपर कपड़ा ... इस सम्बन्धमें पुलिसमें ... दर्ज करायी गयी है। रिपोर्टमें ... देवीका विवाह चार वर्ष पूर्व रोहनिया क्षेत्रके बंदेपुर ग्राममें हुआ था परन्तु दहेज लोभी ससुरालवालोंने उसे काफी प्रताड़ित किया तथा कुछ ही दिन बाद तृष्णा देवीको चोलापुर स्थित उसके मायके पहुंचा दिया।

इस बीच युवतीकी बिदाईके लिए कई बार पंचायत भी हुई परन्तु कोई हल नहीं निकला। तभी शुक्रवारको उसका अपहरण कर लिया गया। अपहृत युवतीको मिर्जापुर जिलेके कछवा थाना क्षेत्रके किसी गांवमें रखे जानेकी बात कही गयी है।

सभा सूचना

उत्तर प्रदेश योग ट्रेनिंग एण्ड रिसर्च असोसियेशनकी बैठक एक नवम्बरकोदिनमें ढाई बजे गौदौलिया स्थित अय्यर कैफेमें होगी।

...तिलहन
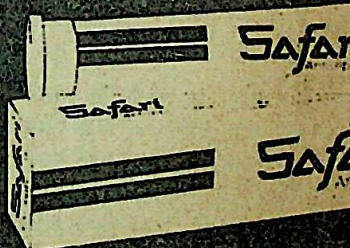
...सरसो, मूंगफली नीम ...रंडीके तेलोंमें तेजी

श्रीमद्भगवद्गीतासु

आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्रिप्रणीत
मधुसूदनी-संस्कृतटीका बालक्रीड़ा-
हिन्दीटीकाभ्यां सहितासु

कर्मप्रधानं प्रथमं षट्कम्

सम्पादक
आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्री

प्रकाशक

अरुणोदय मिश्र

पं० श्रीमधुसूदनशास्त्रिभवनम्—

बी० २/२२५ ए भदैनी

वाराणसी

प्रथमं संस्करणम्-- १००० —कार्तिक २०३३

मुद्रक :

मधुसूदन प्रेस

भदैनी, वाराणसी

फोन : ५३३६२
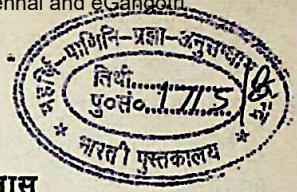
अथ श्रीमद्भगवद्गीतासु

श्लोकगतविषयानुक्रमणिका

॥ कर्म्मप्रधानं प्रथमं षट्कम् ॥

विषय : श्लोकाङ्काः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

इति संक्षेपः ।

श्रीगोपालो विजयतेतराम्

गीतार्थसंग्रहार्थ उपोद्घात

गीता वेद का अर्थ है इसमें किसी को संशय नहीं है। क्योंकि अध्याय समाप्ति में भगवान् वासुदेव जी ने स्पष्ट कह दिया है कि भगवद्गीतासूपनिषत्सु। इसका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण का कहा हुआ वेदरहस्य। तब तो सब से पहले यह जानना जरूरी है कि वेद कौन से ढंग से कही हुई विद्या है। विद्या ज्ञान का साधन है। उसके उपदेश के ढंग तीन हैं। एक इतिहास जो पहला है। जो मनुष्य को मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए कर्तव्य बताया जावे। दूसरा विद्या वालों का वर्ताव बताया जाय। तीसरा उपन्यास जो कहानियों से विद्या कला को बताया जावे। जैसे २ जिन-जिन कारणों से जिन-जिन कार्यों की उत्पत्ति होवे उनका भी बताना पहला। उनमें से ही किसी कारण से किसी कार्य को किसी ने कहा है। उसका बताना इतिहास है यह दूसरा और सुन्दर साधनों से सजाकर किसी कार्य के करने की युक्ति बताना तीसरा ढंग है। वह कार्य वैसे तो जगत् में मनुष्यों की अपनी अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार जितने मनुष्य हैं उतने ही कार्य हैं। तद्यपि दो प्रकार हैं। पहले हैं इस जीवन के उपयोगी और दूसरे हैं दूसरे जन्म के उपयोगी। इनमें पहले का नाम प्रवृत्ति है दूसरे का नाम निवृत्ति है। फिर वह दोनों तीन तीन प्रकार के हैं। विद्या पैदा करना बल पैदा करना, धन पैदा करना, जिसमें मुख्य हो प्रवृत्ति कहाती है। धन और बल दोनों से विद्या पैदा करना जिसमें मुख्य हो वह निवृत्ति कहलाती है।

अब फिर उसे कहते हैं। जिसे यहाँ कहना आवश्यक है। वेद विद्या जो अवश्य कर्तव्य मात्र का ध्यान कराती है। वह दो प्रकार की मानी जाती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि व्यासदेव से पहले की वेदार्थमीमांसा से प्रवृत्ति और निवृत्ति का अर्थ जो यहाँ कहा गया है वह ही आता है। परन्तु युगपरावृत्ति के लिए व्यासावतार हुआ है। इससे उन्होंने निवृत्ति का अर्थ मोक्ष माना है। यहाँ प्रवृत्ति का संस्कार ही नहीं रहता है निवृत्ति का अर्थ फिर से जन्म न लेना माना है। विद्या-बल साधन से धन पैदा करना यह प्रवृत्ति स्वाभाविकी है ऐसा मानकर

इसको असत् बता कर इसकी निन्दा करी है। इसी से भारतवासी इस तरफ से शिथिल होकर अत्यन्त हीन दशा में पहुँच गये। व्यासदेव जी ने जो वेद विभाग की व्यवस्था युग विशेष वर्णाश्रम विशेष के जिस प्रयोजन से की है उसे हमारे युग विभाग से यहाँ जान लेवे।

अब गीता हमारे व्यासदेव के किये विभाग के अनुसार है इसको बता देना भी युक्ति युक्त होगा और जो वेदार्थ है उसे पहले प्रकाशित करेंगे। सब जगह उसका खुलासा करना अबोधक बन जायगा इससे इसे बार बार नहीं लिखेगें। पहले के वेदार्थ में और व्यासदेव जी की प्रणाली के वेदार्थ में यह भेद है। पहला वेदार्थ लोकोन्नति पूर्वक धर्मोन्नति करना था। जिसका लौलिक कार्य उन्नत नहीं होवे वह धर्मोन्नति कैसे कर सकता है? यह कभी हुआ न हो सकेगा। वेद भी कहता है (पुत्रेणायं लोको जय्यः कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः) पुत्रशब्द से धन का बोध होता है। जहाँ यह श्रुति पढ़ी है वहां इस प्रकरण में वित्तैषणा का व्याख्यान किया है। कर्म शब्द से बल का बोध होता है इस प्रकरण में प्राण चेष्टा का निरूपण किया है। उसी को कर्मशब्द से कहा है। विद्याशब्द से विद्या सामान्य का बोध होता है क्योंकि लोकविद्या के बिना धर्म विद्या की उन्नति हो ही नहीं सकती है यह दिखा चुके हैं।

अब तो यह सिद्ध हुआ कि धन से इस लोक में विजय होता है। धर्म बल से पितृलोक और जन्मान्तर में होने वाले लोक का विजय होता है। विद्या से देव (हिरण्य गर्भ के अवयव) लोक का विजय होता है इससे लोकोन्नति और धर्मोन्नति का साधारण एक साथ ज्ञान होता था देख भी ऐसा ही पड़ता है। आज देश में हमारी देशोन्नति नहीं हो रही तो धर्मोन्नति का निशान भी नहीं रहा परन्तु व्यासदेव जी ने वह वेदार्थ बदल दिया कि लोकोन्नति करना वेदार्थ नहीं है। वेद केवल धर्म को ही कहता है। लोकोन्नति स्वाभाविक है इसके लिए वेद का मन्त्र नहीं है उलटा इसके रोक लगाने के लिए वेद प्रवृत्त हुवे हैं। इसी का प्रकाश करने के लिए आपने वेद को संहिता पद्धति के रूप में बांध दई उसको वैसे ही स्थिर रखने के लिए शिष्य जैमिनि प्रभृति के द्वारा पूर्व मीमांसा नाम से सूत्र निर्माण कराकर एक दर्शन

शैली का प्रचार कर दिया। स्वयं स्वनिर्मित पद्धति से कहे हुए धर्मों को नश्वर एवं लोकान्तर साधन बताकर निन्दार्थवाद के द्वारा आसूत्रित किया और उत्तर मीमांसा नाम से मोक्ष पद्धति रूप में कतिपय वेद भाग को अलग निकालकर स्थापन कर दिया। अब व्यासदेव जी के समय से पहले वेदों का कैसा आकार था इसका पता लगाना बड़ा कठिन है।

पाणिनि ऋषि ने ऐसी बुद्धिमत्ता से अष्टाध्यायी बनाई है कि उसका विभाग करने पर भी उसका असली आकार रखना पड़ा। परन्तु वेद का ऐसा नहीं हुआ। श्रीमद्भागवत द्वादशस्कन्ध में व्यासदेव जी स्वयं कहते हैं हमने वेद मंत्र भाग में बहुत कुछ उलट पुलट कर दिया परन्तु यह कहीं नहीं मिलता कि इस मन्त्र से आगे पीछे ये मन्त्र थे। अब ऐसे कर दिये हैं। अनुक्रमणिका व्यास जी के शिष्यों प्रशिष्यों की मिलती है। उनमें व्यास जी की पद्धतियों का क्रम लीना है। ऐसा करके भी (वेद शैली, इतिहास और उपन्यास तीनों को एक मिला कर भी) पुराण निर्माण किये जिनमें बिना सत्संप्रदाय के यह पता लगना कठिन हो गया कि कितना भाग वेद अर्थात् अवश्य कर्तव्यता का बोधक है और कितना इतिहास है तथा कितना उपन्यास है। वेदों के पठन पाठन से यह अवश्य पता लग सकता है कि यह अंश वेदार्थ से विरुद्ध है तथा यह अंश वेद के अनुकूल है।

परन्तु व्यासदेव जी की वेदार्थ की प्रणाली ऐसी दशा में हो गयी कि धर्मोन्नति के शिखर पर पग रखे बिना वेद पढ़ने का कोई प्रयोजन ही नही रहा और व्यासदेव जी के मुख्य ग्रन्थों के प्रमाण से धर्मोन्नति को लोकोन्नति का साधन बनाना सर्वथा अज्ञों का काम है मेरा यह सब कहना इसलिए है कि मैं गीतार्थ को पहले वेदार्थ के अनुसार लिखूंगा।

व्यासदेव जी की प्रणाली के अनुसार गीता जी कर्म उपासना एवं ज्ञान इन तीन प्रकार के षट्क की बोधक है। प्रयोजन यह है व्यासदेव कल्पित पद्धति के अनुसार कर्म करने के अभिमान से कर्ता भोगता हुआ ब्रह्म जीव भाव को प्राप्त हो गया है कर्म त्याग द्वारा अज्ञान से आरोप किये उपाधि धर्म जीवत्व की निवृत्ति करके उससे सत्यता का बोधन करना पहले षट्क का फल है।

उसके सत्य स्वरूप की उपासना के द्वारा असंगति का परिचय करना दूसरे षट्क का प्रयोजन है। जिसकी सत्यता और असंगति बोधन करी है वह दो नहीं है एक ही है। भूल से असत्यता आसक्ति के कारण उस पर आरोप कर लिये थे वस्तुतः वह सत्य विचार था उसके हो जाने से निश्चय हो गया कि एक ही ब्रह्म तत्व था और है और रहेगा। जिस भ्रम से यह कार्य हुआ था वह अनादि माना जाता है इससे उसकी एक वार निवृत्ति होने से पुनरावर्तन नहीं होगा यह नित्य मोक्ष होता है यह व्यासदेव जी का गीतार्थ सिद्धान्त भूत है। पहले वेदार्थ के अनुसार ऐसा गीतार्थ पहले पट्क का प्रयोजन है। मुख्य प्राण की भोगाभिमान से जो अशुद्धि है वह सांख्य सिद्धान्त से आत्मा से भिन्न अधिकरण में है ऐसा समझा कर योग्याभ्यास की योग्यता के लिए योग्याभ्यास की रीति को योग के फल से समझाना दूसरे में है।

तीसरे में सांख्ययोग का विषय विभाग कर अङ्गाङ्गी भाव से एक फल का सम्पादन और फलसंन्यास द्वारा ज्ञान महिमा का स्थापन किया है। प्रायः गीता में भगवान् ने प्राचीन सांख्ययोग का मंत्र ग्रहण किया है। जो व्यास जी के अवतार से पहले मुख्य वेदार्थ था। वह इस प्रकार था। प्रवृत्ति मार्ग के बोधक सांख्य सिद्धान्त के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण वेद का पूर्व भाग है। जो मुख्य प्राण की उपासना द्वारा जगत् की प्रवाह रूप से नित्यता का बोधन करता हुआ मुख्य प्राण रूप स्वर्गादि स्थानों की कूटस्थ नित्यता बोधन कर अनित्य जगत् के कार्यों को नित्यवत् अनुष्ठान करना बताता है। जैसे (अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्) कठ श्रुति कहती है कि अनित्य स्थूल द्रव्यों के अनुष्ठान से मुझको नित्य प्राणरूप अधिकार मिला है वेद नित्य है ब्रह्मतत्व इसी का नाम है उसका स्वरूप नाम रूप है वही नाम और रूप सूक्ष्म अवस्था-रूप में वाक् और मन है। जो कूटस्थ अविकारी नित्य है। स्थूल अवस्था रूप निखिल जगत् है इन दोनों रूपों का जिसमें एकीभाव होता है वह वेदात्मा सत्यरूप है जिसको वेदों में स्थूलभावापन्न कहा गया है। सत् के कार्य आविर्भाव तिरोभाव मात्र से परिणाम (विवर्त) वाला सब वेदार्थ सत्य है नामरूप के सत्य होने से उसकी क्रिया का प्रवाह भी नित्य है। पुराणों में महाप्रलय कहा है। वह तिरोभाव विशेष का नाम है। स्थूल वेदों में भी अत्यन्ताभाव कहीं नहीं माना है। वास्तव में तीन प्रकार के अभावों को जब

सत् रूप से देखते हैं तो चौथे के असत् होने में कोई युक्ति नहीं है। सतां च न निषेधः नासतो विद्यते भावः इत्यादि वचन भी अभाव के नहीं होने में प्रमाण मिलते हैं अब यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि व्यासदेव जी के पहले का कोई वेदाकार नहीं है तो तुमने पहला वेदार्थ कहाँ से जाना। उत्तर—व्यासदेव जी के इतिहासों से। जैसे असुर शब्द के अर्थ असु प्राण में रमण करने वाले को व्यासदेव ने आदि असुर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बताया है। हिरण्याक्ष का अर्थ है हिरण्य (प्राण) में अक्षि (दृष्टि) है जिसकी। हिरण्य शब्द का अर्थ भी प्राण है इसमें प्रमाण हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा के नाम में व्यासदेव जी ने ही कहा है।

प्राण से सब जगत् उत्पन्न होता है यह वेद और पुराण का सिद्धान्त एक है। इसका ही नाम वेदों में विश्वकर्मा कहा है। पुराणों में प्रजापति कहा है। हिरण्य का प्राण नाम हुआ तो हिरण्याक्ष नाम उसका हुआ जो वेदार्थ को प्राणोपभोगोन्नति करना समझता है। ठीक यही समझकर आप की कल्पित वेद पद्धतियों के अर्थ में यज्ञ सूकर को इसके मारने वाला माना है। इस इतिहास से यह सिद्ध किया गया है कि सांख्य सिद्धान्त से नित्य अनेक जीवों को मानने वाले प्राणोपभोग की उन्नति करने वाले असुर होते हैं। वेद में स्पष्ट लोकोन्नति का अर्थ भान होता है उसका परोक्षवाद से लोकान्तर की उन्नति के पथ पर ठहरा कर पुराणों द्वारा उपासना को मुख्य ठहराकर खण्डन कर दिया। उपासना भी उत्तर मीमांसा नाम से अद्वैत सिद्धान्त दर्शन का निर्माण कर जीवात्मा परमात्मा का (अहं ब्रह्मास्मि ऐसा) ऐक्य निश्चयमात्र से निखिल अनर्थों की निवृत्ति का बोधन कर क्रिया मात्र का खण्डन करके इस देश में खासकर कलि युग बसा दिया जिसे आपने अपने श्री मुख से कहा है (कलिमागतमाज्ञाय) निवृत्ति भाग का बोधक वेद भी उनही मन्त्र और ब्राह्मण के शेष भाग का नाम है जो आरण्यक और उपनिषद नाम से प्रसिद्ध है। इसका भी व्यासदेव जी के समय से पहले योग के अभ्यास का उपकरण रूप अर्थ था। अब जो कुछ है सो विद्वानों के सामने है ही इसका पता भी श्री व्यासदेव जी के इतिहास से लगता है। जो योगाभ्यास शोधित नित्य अविकारी मुख्य प्राणरूप आत्मानन्द में निमग्न होकर जन्म मरणादि के त्रास को नहीं भोगना है यही मोक्ष है। और दूसरा भजनीय तत्त्व मुक्त जनों के प्राप्य कोई नहीं है।

ऐसे वेदार्थ को मानने वाले को हिरण्यकशिपु कहा है। हिरण्य नामक मुख्य प्राण तैजस है। कशिपु समाधि से सिद्ध आनन्द शय्या जिसकी है। यही अनेक जीववाद दोनों मतों में लक्ष्य होने से दोनों असुर एक गर्भ में होने वाले हैं किन्तु प्रकृति वाद में एक बड़ा है और पुरुषवाद में एक बड़ा है ऐसा कह कर दोनों को बराबर कहते हुए भी अदिति से पहले जन्म लेने वाले कश्यपु को बड़ा और अक्षको छोटा बताया है। इनका खण्डन करने के लिए सर्वत्र व्यापक एक जीव (अवस्थान्तर में) वही ईश्वर स्तंभ में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु को मारने वाला बताया है यही प्रह्लाद के मुख से योगियों का सेश्वरवाद सिद्ध है यह उक्थ नामक प्राण की उपासना फलक ऋग्वेदार्थ संग्रह किया हैं। इसी प्रकार स्वप्न निद्रा अवस्था में आभ्यन्तर साधन से योग भूमि को प्राप्त कर बाहरी साधन से विद्युत् आदि को वश में करने वाली कलाओं के द्वारा लोकोन्नति का बोधन पूर्व वेद भाग का अर्थ है ऐसे मानने वाले को राक्षस बताया। उत्तर वेद भाग अन्तः करण के चतुर्व्यूह द्वारा उपास्य को चतुर्धा मानकर पूर्व वेदार्थ वाद का विरोध दिखाने वाली आख्यायिका से व्यास देव के समय से पहले का है। ऐसा पता लगता है कि इस लोक की उन्नति के साथ ही चातु-र्होत्र यज्ञ द्वारा लोकान्तरोन्नति होती है ऐसा पूर्ववेदज्ञ कहते थे यह यजुर्वेदार्थ संग्रह हुआ। अन्तः करण के व्यापार से इन्द्रियों की अनेक प्रकार की चेष्टाओं को वश में कर के शस्त्र नामक प्रशस्त व्यापारों से लोकोन्नति के बोधक पूर्ववेदार्थ को मानने वाले दानव कहे हैं।

उत्तर वेद भाग का अर्थ दया प्रधान है अतः प्राणी मात्र का उपकार करनेवाला आदित्य मण्डलवर्ती एक मुख्य भोक्ता है जिसकी भोग्य अनन्त रश्मियां हैं जो देवताओं के वशीकार के उपाय अनेकों प्रकार के योग को बताता है यह पूर्व वेदार्थ को कहने वाली आख्यायिका का स्पष्ट पता देता है यह सामवेदार्थ संग्रह हुआ यही तीन काण्ड गीता जी है। इसको छः २ अध्यायों से कहे हैं।

अब यह दिखाना है कि जब व्यास देव के समय से पहला वेदार्थ माना जावे तो गीता का श्रुत अर्थ यथार्थ है और जब व्यासदेव प्रणीत प्रणाली के अनुसार गीतार्थ करा जावे तब सब शब्दों को गीता भर में नेयार्थ समझने चाहिए

जैसे अर्जुन साधन सम्पन्न शुद्ध मुमुक्षु का नाम है। युद्ध की आख्यायिका कल्पना मात्र है। धृतराष्ट्र शब्द का अर्थ जगत् का कारण मूल अज्ञान है। उसके पुत्र मिथ्याभिमान रूप दुर्योधन आदि सैकड़ों हैं। उनके सहचारी दुर्योधन के उपकारक (पर दोष दुर्गुण आदि शब्द के ग्रहण में तत्पर श्रवणेन्द्रिय रूप) कर्ण हुआ। दुःशासन दुष्ट शिक्षा शकुनि धूर्त चालबाजी में कुशल ये तीन अधर्म की शाखा हैं। दुःशासन मिथ्याभिमान से पीछे पैदा होता है अतः छोटा दुःशासन है और बड़ा दुर्योधन है। शकुनि कर्ण से ऊपर रूढ पद हो जाता है। शोक, रूप द्रोण, मोह, रूप भीष्म इसके फल हैं दुःख अज्ञान आदि अनेक इसकी सेनाए हैं। बड़ा अज्ञान है जो अनादि काल से ज्ञान रूप आत्मा को ढके चला आया है।

जब अज्ञान मिथ्याभिनिवेश को पैदा कर तीन प्रकार की अधर्म शाखाओं को दृढमूल कर देता है। तब वह धर्म शाखा से दुर्निवार हो जाता है। पांडु धर्म का नाम है। पाण्डव अन्तःकरण के गुण हैं इससे भाई हैं। धर्म की शाखा ५ हैं पहली दृढता अर्थात् धैर्य दूसरी बल शस्त्रपरायणता अर्थात् शस्त्र को ग्रहण कर लेना। तीसरी अनुष्ठान परायणता अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन कर के तत्त्व विवेक करना। ये एक माता के पुत्र रत्न हैं। चौथी शील अर्थात् (सरल वर्ताव) पांचवीं समता एकतत्त्वदृष्टि करना। इन पांचो के युधिष्ठिरादि नाम धरे हैं। अर्थात् धर्मशाखा के सहकारी साधनरूप सेना द्वारा मिथ्याभिनिवेश का सेना समेत नाश कर स्वाराज्य पैदा कर आत्मतत्त्व का परिशोधन करना गीता का प्रयोजन है। इस आख्यायिका से परोक्ष रूप से उपदेश देकर स्वधर्म शिक्षा भी बता दी गई है। आख्यायिका का उपोद्घात पहले अध्याय में कहा है दूसरी में गीता का आरम्भ हुआ है धृतराष्ट्र संजय का संवाद है। धृतराष्ट पूछता है और संजय इसका सारथि व्यासजी का शिष्य करामलकवत् सब अर्थ को देखता हुआ उत्तर दे रहा है। महाभारत में जो गीता के आरम्भ में लिखा है कि संजय अठारह दिन युद्ध में था फिर जब सब का शेष अन्त

हो गया तब उसने धृतराष्ट से सब वृत्तान्त कहा है यह वेदों की शैली है। भविष्यत् बात को भूत करके कहा करते हैं। उसी ढग से यह भारताख्यान है। नहीं तो संजय तो धृतराष्ट का सारथी है किसके साथ युद्ध में जाता। गीता के अन्त में लिखा भी है "व्यासप्रसादात् पश्यामि" में व्यास जी के प्रसाद से योग से देखता हूं। पूर्व में लिखा है कि संजय युद्ध में जाकर आया इसी प्रकार ग्रन्थों में पूर्वापर विरोध का परिहार है यह समझना चाहिए।

यह वरिवसित पूज्यपाद पिताजी स्वर्गीयमहामहोपाध्याय पण्डित श्रीरामजी लालजी शास्त्री महाराज का वरप्रसाद है।

—०—

॥ श्रीः ॥

गीता का प्रतिपाद्य

गीता शब्द का अर्थ क्या है क्योंकि गै शब्दे धातु से भूतकाल में कर्म अर्थ में क्त प्रत्यय, आत्व, एवं ईत्व होकर स्त्रीलिंग में गीता शब्द बना है अतः इसका अर्थ है गाई हुई। इस तरह यह विशेषण शब्द हुआ यानी सामान्य शब्द हुआ। यह गाई हुई क्या वस्तु है कौन पदार्थ है यह आकांक्षा होती है। इसके उत्तर में कहते हैं कि इस गीता ग्रन्थ के १८ अध्याय हैं इन अट्ठारह अध्यायों में प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है कि (श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) यह भगवान् की गाई हुई उपनिषद् है अतः उपनिषद् विशेष्य है फलतः गीता शब्द का अर्थ हुआ गाई हुई उपनिषद्।

प्रश्न— जब गीता शब्द का अर्थ उपनिषद् है तब लोक और शास्त्र में इसका गीता इस नाम से ही क्यों व्यवहार होता है उपनिषद् नाम से क्यों नहीं होता है।

उत्तर– इसके दो कारण है। एक कारण है कि कुछ विशेषण शब्द इतने प्रसिद्ध हो गये हैं कि उनसे विवक्षित समुचित ग्राह्य ही अर्थ का बोध होता है दूसरे का नहीं। जैसे त्र्यम्बक; इससे भगवान् शंकर का ही बोध होता है। चतुर्भुज इससे भगवान् विष्णु का ही बोध होता है। हस्ती इससे प्रशस्तहाथ वाला पशु ही जाना जाता है दूसरा कोई नही वैसे ही इस गीता शब्द से विवक्षित १८ अध्यययों वाले कृष्णा-र्जुन संवाद रूप उपनिषद् ही का बोध होता है दूसरे का नहीं। दूसरा कारण है कि ईशावास्य आदि जो चारों वेदों के ११८० उपनिषद् है उनमें इसकी गणना नहीं है। उपनिषद् शब्द का अर्थ है रहस्य। यह गीता रूपी उपनिषद् तो उनका भी रहस्य है सार है। अत एव लोक एवं शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

ईशावास्यादि सम्पूर्ण उपनिषद् गौ है और भगवान् श्रीकृष्ण गोपाल है दूहने वाला ग्वाला है।

दूहने के लिए गौ को पिह्नाने वाला बछड़ा पार्थ है अर्जुन है। इस तरह उपनिपद् रूपी गौओं से गीता रूपी अमृत को दूहा। जिसके भोक्ता सुधी हैं शास्त्र परिष्कृत तत्त्व को धारण करने वाले मेधावी हैं। क्योंकि (धीर्धारणावती मेधा) इस कोश के अनुसार धी शब्द का अर्थ मेधा है। अस्तु।

यदि सीधे सीधे गीता शब्द का अर्थ उपनिषद् होता तो जब सम्पूर्ण उपनिषदों को गौ कह दिया तब उपनिद्भूत गौ से फिर गीता उपनिषद दूध रूप से कैसे निकलेगी। क्योंकि गीता और उपनिपद् अलग-अलग दो पदार्थ दो वस्तु हैं नहीं। जो गीता है वही उपनिपद है। यदि कहें कि अन्य उपनिषद् शुद्ध उपनिषद् हैं यह उपनिपद् गीता है गाई हुई है विशिष्ट है अतः इन शुद्ध उपनिषदों से इस विशिष्ट उपनिपद् का दूहन किया है तब भी यह लोकशास्त्रानुसारी कथन नहीं हुआ क्योंकि शास्त्र कहते हैं। (विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते) कि विशिष्ट शुद्ध से अलग नहीं होता है। सब मनुष्य हैं कहने से ब्राह्मण आदि मनुष्यों का भी ज्ञान हो गया क्योंकि वे भी मनुष्य हैं उनसे बाहर वे नहीं है। इस पर कहते हैं कि उपनिषद तो बहुत हैं उनमें से किसी-किसी उपनिषद को भगवान् ने गाया है सब उपनिषदों को नहीं गाया है। किसी मनुष्य को बुलावो कहने पर ब्राह्मणादि किसी विशिष्ट मनुष्य को ही बुलाया जायगा सबको नहीं बुलाया जा सकता है। अतः गाई हुई ही उपनिषद का ग्रहण हो अन्य उपनिषदों का नही यही हेतु है इसके गीता नाम से प्रसिद्ध होने का।

इसके फलस्वरूप गीतामृतम् का गीता रूपी अमृत यह अर्थ नहीं है यह अर्थ अशुद्ध है। इसका अर्थ है (गीताभ्यः उपनिषद्भ्योऽमृतम् महत् श्रेष्ठं दुग्धम्) कि गाई हुई उपनिषदों से महत्वशाली अमृत अमरत्व (यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है) का दूहन किया। अर्थात् अर्जुन को जो भाई बन्धुओं के मारने मरने और स्वयं के मरने के विपय में कृपणता की भावना हो गई थी उसका निराकरण करने के लिए इन गाये हुये उपनिषदों से अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इत्यादि रूप से अमरत्व का दूहन किया। अथवा अमृत शब्द का (यज्ञशेषसुधामोक्षेष्वमृतं पुन्नपुंसकम्). इस कोष के अनुसार

मोक्ष अर्थ है। और (गीतं च तदमृतं च) यह विग्रह यहाँ है। तथा गीत शब्द का अर्थ है प्रतिपाद्य। अतः प्रतिपाद्य मोक्ष का दूहन किया ऐसा अर्थ यहां है इस अर्थ की पुष्टि इस ग्रन्थ के उपसंहार में कहे हुए।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

"दोषैरेतैः' इन वर्णसंकर कारक दोषों से जातिधर्म और कुलधर्म सब नष्ट हो जायेंगे। जिनके ये धर्म नष्ट हो जाते हैं उन का नरक में वास होता है ऐसा हम सुनते हैं। अहो हम लोग महापापों को करने के लिए उद्यत हो रहे हैं ऐसा कहने वाले अर्जुन को भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! तुम धर्मों को कुलधर्म एवं जातिधर्मों के पचरे को छोड़ो और मुझको एक मात्र शरण रक्षक व्रज समझो। गत्यर्थक ज्ञानार्थक हैं। मैं तुह्मारा सम्पूर्ण पापों से मोक्ष कर दूंगा। अतः मोक्ष ही यहाँ अमृत शब्द का अर्थ है।

इस तरह यह गीता वेदों का सार है यही कारण है कि यह सर्वमान्य परम पावन और सार्वभौम ग्रन्थ है। प्रत्येक सम्प्रदाय के मूर्धन्य आचार्यों की साम्प्रदायिकता की कसौटी यह गीता है। उन लोगों की बुद्धि का परिमार्जन एवं तीक्ष्णीकरण की यह आधार रही है। जिस सम्प्रदाय वाले आचार्य ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार इसकी व्याख्या की तभी वह सम्प्रदाय और उसका आचार्य दोनों प्रतिष्ठित माने गये अतएव विश्वविश्रुत कहे गये। अन्यथा नहीं। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक सम्प्रदाय एवं प्रत्येक मत वाले प्रत्येक राष्ट्र के वासी जनों ने इस ग्रन्थ मे अपनी-२ बुद्धि से व्यायाम कसरत कराई है। उनकी बुद्धियों ने भी तगडा व्यायाम इस मल्ल-शाला में किया है। कौन राष्ट्र वह है कौन सी भाषा वह है जहां इसका रूपान्तरण नहीं हुआ है। सब राष्ट्रों में सब भाषाओं में इसका प्रचार प्रसार एवं विकास हुआ है।

अतएव इसके विषय में यह डिण्डिम नाद है कि
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

अन्य विस्तृत शास्त्रों के गाने से क्या लाभ है कोई लाभ नही है सिवाय समय विना देने के। अथवा अन्य शास्त्रों के विस्तर माने प्रख्यान अतिशय कथन से कोई लाभ नही है शास्त्रों का वार वार दुहराना तिहराना व्यर्थ है। बस। एक केवल गीता का ही सुन्दर तरीके से गान करना चाहिए।

प्रश्न—शास्त्र तो आप्त महापुरुषों के आप्त वचन हैं अतः आप्त शब्द रूप शास्त्रों के समक्ष गीता का इतना महत्व क्यों है। उत्तर।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता।

शास्त्र यद्यपि आप्त शब्द रूप है तद्यपि ये लौकिक महापुरुष जो जीव भाव को प्राप्त है अतएव जो माया के वशीभूत हैं उनके मुख से निकले हैं अतः ये शास्त्र अपूर्ण हैं किन्तु यह गीता तो साक्षात् भगवान् स्वयं पद्मनाभ के मुख से निकली है। यहाँ पद्मनाभ कहने का यह आशय है कि (यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेराश्च प्रहिणेति तस्मै) जिसने अपने नाभिपद्म से सृष्टिके आदि विधाता ब्रह्मा को पैदा किया और फिर उसको आदि ज्ञान सिखाया हैं उस भगवान् ने स्वयं इसको गाया है अतः पूर्ण है। अतएव लौलिक शब्द होने के कारण ही उन शास्त्रों के विषय में कहा जाता है कि (विवादस्तेषु केवलम्) उन शास्त्रों में केवल विवाद ही है और गीताओं में संवाद है। शास्त्रों में विवाद कैसे हैं उसको दिखाते हैं –

कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा
तावुभौ यदि सर्वज्ञौः मतभेदः कथं तयोः।

कपिला महर्षि यदि सर्वज्ञ है सर्ववित् हैं (यः सर्वज्ञः स सर्ववित्) तब कणाद गौतम वगैरह सर्वज्ञ नही है इसमें क्या प्रमाण है। नही नहीं इनकी सर्वज्ञता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए ये भी सर्वज्ञ हैं। यदि ये भी सर्वज्ञ हैं तब इनमें मतभेद क्यों है। अतः कहना पड़ेगा कि उनमें भ्रम प्रमाद इन्द्रियदोष करणापाटव एवं विप्रलिप्सा आदि सकल पुंदोषाशंकारूप कलंक का मोक नहीं है त्याग नहीं है फलतः विवाद है और भगवान् के वाक्यों में उन कलंकों का मोक है अतः विवाद नहीं है यही अन्य शास्त्रों की अपेक्षा गीता में इतने महत्व के होने का हेतु है।

उपोद्घात का आकार बढ़ जायगा अतः शास्त्रों में जो मत भेद है उसको यहाँ नहीं दिखाते हैं उसको जो देखना चाहे वह हमारे बनाये हुए हिन्दूविश्वविद्यालय त्रिशती में देखें।

श्रीमद्भगवद्गीता जैसे सार्वभौम एवं सम्प्रदायवादी अथ च स्वतन्त्र मूर्धन्य आचार्यों की बुद्धि की कसौटी स्वरूप ग्रन्थ में लिखने की शैली की, विषय के प्रतिपादन की या वस्तुतत्व के निरूपण के सम्बन्ध की अनेक तरह की लौकिक एवं शास्त्रीय विप्रतिपत्तियां तथा विभिन्न टीकाओं में विमर्शव्यामोहकताएँ और अनुपपत्तियां जो कि मेरी स्वल्पज्ञता से मुझे प्रतिभात होती है उनको भगवान् की सेवा में उपस्थित करता हूं।

इनमें शास्त्रीय अप्रतिपत्तियों एवं विप्रतिपत्तियों का उल्लेख न्यायदर्शन ५ म अध्याय के २ य आह्निक में है।

अप्रतिपत्तियां

अननुभाषण अज्ञान 'अप्रतिभा' विक्षेप पर्यनुयोज्योपेक्षण ये ५ अप्रतिपत्तियां है इनमें अननुभाषण एवं अर्जुन के द्वारा प्रष्टव्य का उपेक्षण नहीं पूछना मूल ग्रन्थ में है और अज्ञान अप्रतिभा एवं विक्षेप कई टीकाओं में हैं उनको दिखायेंगे।

विप्रतिपत्तियां

विप्रतिपत्तियां १७ हैं उनमें से ९ प्रकारों को दिखायेंगे। उनमें अनुक्रम या व्युत्क्रम का ख्याल नहीं किया है जैसे जैसे प्रतिभात हुई हैं वैसे २ लिखी हैं।

चेतावनी

इनको दिखलाना केवल अधिकारी विद्वानों के लिए ही किया गया है उन्हीं के ध्यान का आकर्षण करने के लिए यह प्रयास है। अनधिकारी प्राज्ञ हठेन पठिती लोगों के लिए नहीं हैं।

कहा नहीं जा सकता है कि क्या हेतु है कि श्रीमद्भगवद्गीता की इतनी अनगिनत टीकाएँ टीकाकारों ने लिखी मगर किसी ने भी इनका ऊह एवं अपोह या शंका एवं समाधान क्यों नहीं किया। खैर। मैं अब इनके विषय में ऊहापोह करता हूं। क्योंकि भगवान् मधुसूदन ने जिन उपनिषदों

को गाया और विविद्वान मधूसूदन सरस्वती ने जिन गीताओं के गूढ अर्थो का आस्वादन जनता को कराया उन गीताओं को कसौटी पर कसने रूपी कार्य को मैं स्वल्पज्ञानवान् मधुसूदन करता हूँ।

क्या किया जाय। यह कोई अपूर्व वृत्त नहीं है अर्थात् नई कहानी नहीं है। जब कि आम्नाय से सभी प्रमाणों में श्रेष्ठ प्रमाण वेद से जो सिद्ध है और जिसका संविद् से यानी परप्रकाशानपेक्ष स्वप्रकाशस्वरूप ज्ञान से विकास है और संवाद है (संवादास्तु भवन्त्येव प्रायेणैव सुमेधसाम् सौ सयाने एक मत के अनुसार) ऐकंमत्य है। फिर भी जान कर भी जिसके विषय में यह लोक अनजान बना हुआ है अत एव इन ज्ञान और क्रियाओं में द्वन्द्व होता है अर्थात् विरोध दिखाया जाता है तब फिर इसके द्वारा यह लोक इनको दूषित नही करता है, करता ही है।

इसके सिवाय उत्तरोत्तर ऊपर की भूमिकाओं में पहुंच कर भी अर्थात् ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। बस। एक ब्रह्म ही है दूसरा कोई नहीं है ऐसा ताल ठोक कर अद्वैत को कहने वालों ने एक को सत्य एवं दूसरे को मिथ्या कह कर और एक का सद्भाव और दूसरे का अभाव बतला कर दो वस्तुओं के द्वारा द्वैत का ही प्रतिपादन किया है। क्योंकि जहाँ द्वैत है वहाँ ही एक इतर को देखता है जिसके लिए सब कुछ आप ही हैं अर्थात् जो सबको अपने स्वरूप समझता है तब किससे किसको देखे और कैसे कहे कि यह सत्य है यह झूठ है तथा किसके विषय में किसको कहे कि यह एक ही हैं दूसरा कोई नहीं है। इसी को लेकर रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत को कहा। भास्कराचार्य अचिन्त्यभेदाभेद कहते हैं। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत को कहते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न मार्गों में जाकर भी थकने की परवाह नहीं करने वाली बुद्धि जो अर्थ तत्त्व को देखती है वह आद्य प्राचीन आचार्यों के द्वारा परिकल्पित विवेक रूपी सोपान की परम्पराओं का फल है।

यद्यपि विवेक रूपी सीढ़ियों में क्रम होने से ऊपर चढ़ने में सुविधा जरूर है किंतु श्रम तो अवश्य मालूम पड़ता है। तदपि प्रमेय की सिद्धि करने में अर्थ तत्त्व को समझने में जो प्रथम अवतार है सीढ़ी है वह तो आलम्बन रहित है। अहो

आश्चर्य है कि आगे आने वाले आधार के लिए तो पहले-पहले वाला आधार है किन्तु सर्व प्रथम जो आधार है उसका तो कोई आलम्बन नहीं है। क्योंकि (मूले मूलाभावादमूलं मूलम्) मूल तत्त्व का कोई मूल नहीं होता है इसके अनुसार मूल में मूल का अभाव है। अतः (क्वचिद्विश्रामो वाच्यः) कहीं पर विश्राम करना चाहिए। फलतः सन्मार्ग के लाभ हो जाने पर कृत्य के लिए समीचीन पद्धति के मिल जाने पर पुल का निर्माण एवं नगरों की स्थापना करने में कोई आश्चर्य नहीं है।

इसलिए यहाँ पर गीताओं में अप्रतिपत्तियों एवं विप्रतिपत्तियों का उद्घाटन करके उनको दूषित नहीं करता हूं। अपितु मैं अपने अज्ञान को दूर करने के लिए प्रयत्न करता हूं। क्योंकि पहले कहे हुए सिद्धान्तों पर नये तरी के से शङ्का ऊह एवं अपोह समाधान कर देने से मूल की प्रतिष्ठा सर देने का ही फल है ऐसा प्राचीन लोग कहते हैं। जैसा कि लेख है—

युक्तिबलात् कस्यचिद् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं वस्तुसिद्धौ न बाधकम्।

युक्तियों के द्वारा वस्तु तत्त्व के निष्कर्ष निकालने में किसी ग्रन्थकार के विपरीत लिखना वस्तु सिद्धि में बाधक नहीं है।

तद्धि शिष्यबुद्धिवैशद्याय अभ्युच्चयवादेन अर्थान्तरोपवर्णनं खण्डनं न, अपि तु मण्डनमेव। शिष्टमर्यादामनुल्लंघयत् वस्तुतो निष्पक्षपातं युक्तिधारया कमप्यर्थं निर्णयत् प्रत्युपकुर्यादेव मूलग्रन्थं पण्डितकुलञ्चेति।

क्योंकि वह शिष्यों की बुद्धि को विशद करने के लिए अभ्युच्चयवाद से अर्थान्तर का वर्णन करना खण्डन नहीं है अपितु मण्डन ही है। शिष्ट मर्यादा का उल्लंघन किये बिना वस्तुतः निष्पक्ष होकर युक्तिधारा से युक्तियों के बल से जो किसी अर्थ का निरूपण करना है वह मूलग्रन्थ का और पण्डित कुल का उपकार ही करना है ऐसा समझना चाहिए।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। शास्त्र में किसी भी ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय करने के लिए एक सिद्धान्त बनाया है। उसमें तात्पर्य निर्णायक सात हेतु बतलाये हैं। वे सात ये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्,
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।

उपक्रम किसी वात का प्रथम आरम्भ है। उपसंहार समाप्ति है। अभ्यास उस वात को दुहराना तिहराना है। अपूर्वता नया सन्देश है। फल अन्तिम परिणाम है। अर्थवाद फलितार्थ कथन है और उपपत्ति युक्तियाँ हैं।

गीता का उपक्रम प्रथम आरम्भ धृतराष्ट्र के "युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया युद्ध किया या नहीं" इस वाक्य से हुआ है। यह संजय से प्रश्न है। इसके उत्तर में संजय कहना शुरू करते हैं कि राजा दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहते हैं कि आप पाण्डवों की सेना को देखें इनकी सेना में और हमारी सेना में ये ये योद्धा हैं। अतः आप लोग व्यवस्थित होकर भीष्म की रक्षा करें। उसी समय भीष्म पितामह ने युद्ध का शंख वजाया। उसके बजते ही चारों तरफ में युद्ध के शंख वज गये। उसी समय अर्जुन को यह भाव उत्पन्न हुआ कि मुझे किनसे लड़ना है और युद्ध करने की इच्छा से कौन-कौन आये हैं जरा उनको देख तो लूं।

इसके लिए भगवान् से कहा कि मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दो। क्योंकि मैं सेना के लोगों को देखूंगा। तदनुसार भगवान् ने रथको दोनों सेनाओं के वीच में खड़ा कर दिया। अर्जुन ने सेना को देखा और अपने सगे सम्बन्धियों की मृत्यु का खयाल करके विषण्ण होकर कहा कि मैं इनको मारूंगा। अहो महान् पाप करने की तैयारी में लग रहा हूँ। इस तरह युद्ध स्थल में शस्त्रसम्पात की प्रवृत्ति के समय शोक मोह से ग्रस्त हुआ। धनुष और वाण को फेंक कर युद्ध से पराङ्मुख होकर रथ से नीचे उतर कर रथ के बगल में वैठ गया।

इस पर भगवान् ने अर्जुन को समझाना शुरु किया। इसी समझाने समझने में दोनों का कथनोपकथन रूप संवाद हुआ। इसी प्रसङ्ग में भगवान् ने अर्जुन को अपना ऐश्वर रूप दिखाया। अन्त में संजय ने कहा कि हे राजन्! मैं इन दोनों के संवाद को और भगवान् के रूप को याद कर कर के विस्मित होता हूं और

हृष्ट होता हूं। अतः मेरा तो यह ध्रुव मत है कि अर्जुन राज्य लक्ष्मी को प्राप्त करेगा क्योंकि उसमें नीति है अतः युद्ध में विजय उसी को मिलेगी और विजय का फल भूति माने ऐश्वर्य और सम्पत्ति भी उसीको मिलेगी।

इस तरह यहां मेरे और पाण्डु के युयुत्सु लड़कों ने क्या-किया यह उपक्रम है। १—मेरा तो मत है यह अर्थवाद है फलितार्थ कथन है। २—अर्जुन राज्य लक्ष्मी प्राप्त करेगा यह उपसंहार है। —अर्जुन में नीति है यह अर्जुन के राज्य लक्ष्मीः प्राप्त करने में उपपत्ति है। ४—और ५—अभ्यास है। ६—भूति अर्जुन को मिलेगी यह फल है। ७—और अपूर्वता है।

इस पर प्रश्न होता है कि यदि यह निर्णय आरम्भ के १ पद्य और अन्त के ४ पद्यों माने ५ पद्यों मात्र के विवरण से मिल जाता है तव गीता के ७०० पद्यों में अवशिष्ट से ६९५ पद्यों की क्या जरूरत है।

उत्तर। ७०० पद्यों वाली गीता के अवशिष्ट ६९५ पद्य संवाद रूप हैं। इस संवाद को और ऐश्वर रूप को याद कर कर के ही तो संजय ने अपना मत ऐसा वताया अतः ६९५ पद्यों की वहुत वड़ी जरूरत है।

क्योंकि 'धृतराष्ट्र के मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने युद्ध किया या नही किया" इस प्रश्न के उत्तर के लिए इन पद्यों की आवश्यकता है इन्हीं से तो उत्तर मिला कि कौरव पाण्डवों में युद्ध हुआ और युद्ध में कौरवों की हार पाण्डवों की विजय हुई। वात यह है कि दुर्योधन की (सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धे न केशव !)

हे केशव ! विना युद्ध किये सूची के अग्र भाग के माने नोक के वरावर भी भूमि नहीं दूंगा—इस प्रतिज्ञा के अनुसार जहां कुछ भी नही मिलने वाला था। वहां राज्य लक्ष्मी मिली यह युद्ध में विजय होने का फल है। अतः युद्ध अवश्य हुआ।

प्रकृत में शस्त्र सम्पात की प्रवृत्ति के अवसर पर भगवान् के द्वारा अर्जुन को गीता के सुनाने का और लर्जुन के सुनने का भी यही परम फल है।

प्रश्न—प्रायः कतिपय आचार्यों ने इस ग्रन्थ में कर्म उपासना एवं ज्ञान का निरूपण किया है ऐसा कहा जाता है।

इसी लिए इस गीता में ६, ६ अध्यायों के तीन षट्क ये लोग मानते हैं प्रथम षट्क कर्मकाण्ड है। द्वितीय पट्क उपासना काण्ड है एवं तृतीय षट्क ज्ञान-काण्ड है। यही चर्चा साधारण तथा असाधारण जनों में इधर उधर विश्व में प्रसिद्ध है। आप कहते हैं कि युद्ध के उपदेश में ही गीता का तात्पर्य है यह कैसे।

उत्तर-सुनिये ! सावधान होकर सुनिये। गीता के आरम्भ में दो प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी (अनुयोगी या अनुद्वन्द्वी नही) राजाओं की युद्ध के लिए सन्नद्ध दो सेनायें खड़ी हैं ऐसा कहा है। उन दो में एक दुर्योधन राजा है जैसा कि "दुर्योधनस्तदा राजा वचनमब्रवीत्" ऐसा १।२ में कहा है। दूसरा युधिष्ठिर राजा हैं जैसा कि "राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठरः" ऐसा १।१६ में कहा है। ये युद्ध के लिए इच्छुक हैं। इसी लिए धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि मेरे एवं पाण्डु के युयुत्सु पुत्रों ने क्या किया" १।१ इसके उत्तर में संजय ने कहा कि पाण्डवानीकं १।२ पाण्डवों की सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को पाण्डवों की महती चमूको दिखाया १।३ फिर अपने सेना के नायकों को "नायका मम सैन्यस्य १।७ सर्वे युद्ध विशारदाः १।९ वतलाया और कहा कि अपना बल अपर्याप्त है पाण्डवों का बल पर्याप्त है। १।१० इसके वाद शस्त्र के सम्पात के विपय में प्रवृत्ति करने के निमित्त अर्जुन ने धनुप को उठाकर भगवान् से १।२० कहा कि दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को खड़ा करो। १।२१ जिनसे मुझे लड़ना है योद्धव्यम् १।२० ऐसे योद्धुकामों को १।२२ जो युद्ध में १।२३ आये हैं। उनको मैं देखूंगा। इस पर भगवान् ने दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ा कर दिया १।२४ अर्जुन ने उस सेना में युयुत्सु १।२८ अपने सम्बन्धियों को देखा। अहो मैं वड़े भारी पाप को करने पर उतारू हो गया हूं ऐसा सोच समझकर। मैं युद्ध नही करूंगा ऐसा कहा और -युद्ध भूमि में धनुष और बाण को छोड़ दिया तथा रथ से नीचे उतर कर वगल में बैठ गया।

इस परिस्थिति में भगवान् ने अपने मन में सोचा कि यह तो "नादान की दोस्ती जी का जंजाल" वाली कहावत हो गयी। अच्छा चलो। समझाया जाय। फिर भगवान् ने साम दाम दण्ड और भेद इन चारों उपायों का प्रयोग किया। जैसे—

हे अर्जुन ! तुम इन भीष्मादि के बारे में व्यर्थ शोक करते हो। पण्डित लोग शोक नही करते क्योंकि जो है वह रहेगा ही, जो नही है वह कभी होगा ही नही यह आत्मा अविनाशी है। शरीर अवश्य विनाशी है इस लिये युद्ध करो १।१८ न कोई किसी को मारता है और न कोई मरता है जैसे पुराने कपडों को छोडकर नये कपडों को पहनते हैं उसी तरह इस जीर्ण शीर्ण शरीर को त्याग कर नूतन शरीर को धारण किया जाता है। इसलिए चिन्ता करने की कोई भी आवश्यकता नही है। यह आत्मा अजर है अमर है नित्य है सर्वव्यापी है न इसको कोई जला सकता है न काट सकता है न आर्द्र कर सकता है और न सुखा सकता है इस लिए आत्मा के बारे में सोच नही करना चाहिए। यह शरीर तो अवश्य ही नष्ट हो जायगा क्योंकि जो पैदा हुआ है वह मरेगा ही अतः शरीर का नष्ट होना अपरिहार्य है। अतः शरीर के बारे में भी सोच नही करना चाहिए। और यह भी तो बात है कि मरने जीने की क्या चिन्ता करते हो युद्ध में तो मार काट ही होती है। तुम क्षत्रिय हो युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है इस लिए मरने मारने से तुमको विचलित नही होना चाहिए। यह तो धर्म प्राप्त युद्ध है इस से बढ़कर कुछ भी दूसरा कल्याण का मार्ग क्षत्रिय के लिए नही है। बडे भाग्यशाली क्षत्रिय ऐसे युद्ध को प्राप्त करते है। १।३७।३१।३२ यह सब साम का प्रयोग है।

अगर तुम इस धर्म्य युद्ध को नही करोगे तो तुम्हारी निन्दा होगी जो मृत्यु से भी दुःसह दुःखकारी है अतः युद्ध करने के लिए खडे हो ओ युद्ध में लग जावो। १।३३।३४।३५।३६।३७।३८। यह भेद का प्रयोग है।

प्रकृति के गुण सब कुछ करते हैं तुम कुछ नही करते हो। इसके सिवाय यह भी बात है कि तुम सब कर्मों को "मैं तो भगवान् का भृत्य हूं उन्हीं के लिए कर्म करता हूं। ईश्वर की प्रेरणा से सब कार्य होता है" ऐसा अध्यात्मचित्त माने

विवेक बुद्धि से भगवान् में अर्पण करके शोक सन्ताप रहित होकर युद्ध करो २।३० जो मेरे इस मत को मानते है वे कर्मों के बन्धन से छूट जाते है जो तो नही मानते है उनको तुम नष्ट हुए समझो। २।३१।३२ अतः हे भारत ! आवो और युद्ध के लिए उठो ४। ७ इस लिए सब कालों में मेरा स्मरण करो और युद्ध करो ८।७ और जो सेनाओं में योद्धा लोग खडे हैं तुम्हारे सिवाय कोई भी नही रहेंगे सब मारे जायेंगे। ११।३२ इस लिए तुम उठो यश को प्राप्त करो और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का भोग करो। मैंने सब को मार दिया है तुम केवल निमित्त बन जाओ ११।३३ तुम व्यथा मत करो मेरे द्वारा मारे हुए इनको मारो युद्ध करो युद्ध में शत्रुओं को परास्त करोगे। ११।३४ यह दाम का प्रयोग है। अगर तुम अहंकार से मेरी बातों को नही सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे। इसके सिवाय यह भी बात है कि अगर अहंकार से यह कह भी दोगे कि मैं युद्ध नही करूंगा तो जाओगे कहां क्षत्रिय के बच्चे को उसकी प्रकृति स्वतः प्रवृत्त कर देती है अतः तुम अपनी प्रकृति के अनुसार स्वभाव के वशीभूत होकर युद्ध अवश्य करोगे। १८।५८।५९।६० ।

यह जो तुमने भिक्षा मांग कर पेट को पालूंगा मार काट नही करूंगा। ऐसा कहा उसके विषय में सुनो यह भिक्षा वृत्ति क्षत्रिय का धर्म नही है। याद रखो दूसरे के धर्म का सुन्दर तरीके से अनुपालन करने का अपेक्षा अपना दोष पूर्ण भी धर्म अच्छा हैं यह पहले (३।३५ में) कह आये हैं और अब भी (१८।४७ में) पुनः कहते हैं।

सभी कोई अपने स्वाभाविक कर्म से बंधा हुआ है अतः नही चाहते हुए भी तुम जबरन् विवश होकर युद्ध करोगे। अतः कुछ समझ में आया। १८।७२ इस पर अर्जुन ने कहा कि हे भगवन् ! मेरा मोह नष्ट हो गया मुझे अपने क्षत्रियत्व के अनुसार युद्ध करना चाहिए मैं युद्ध ही के लिए यहाँ उपस्थित हुआ था यह सब मुझे याद आ गया है। अतः आप की आज्ञा का पालन करूंगा युद्ध करूंगा। १८।७३ इसके बाद युद्ध हुआ इसको समस्त संसार जानता है इस लिए गीता का तात्पर्य अर्जुन के लिए युद्ध के उपदेश में है।

भगवान् ने युद्ध ही करने के लिए अर्जुन को वार-वार प्रेरणा दी और कहा कि—

तेजो धृ ।र्यशो दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

युद्ध में पराङ् मुख नहीं होना युद्ध से नहीं भागना अर्थात् युद्ध करना क्षत्रियों का स्वभाव सिद्ध कर्म है। और स्वभाव सिद्ध अपने कर्म से मनुष्य बंधा रहता है। अतः मोह के कारण जिस युद्ध को तुम करना नहीं चाहते हो उसे तुम्हें विवश होकर करना पड़ेगा। इसलिए' "तुमने जो यह कहा कि अहो हमलोग राज्य के सुख के लोभ से महान् पाप करने को उद्यत हो गये हैं पाप नहीं करना चाहिए, भिक्षा वृत्ति से निर्वाह करना अच्छा है" वह कहना ठीक नहीं है। सुनो और समझो। दूसरे का धर्म स्वनुष्ठेय है अच्छा है और अपना धर्म स्वनुष्ठेय नहीं है अतः दोष युक्त है विगुण है किन्तु सुन्दर तरीके से अनुष्ठान किये जा सकने वाले परधर्म की अपेक्षा विगुण भी अपना धर्म अधिक अच्छा है। क्योंकि स्वभाव नियत स्वभाव सिद्ध कर्म को करने वाला पाप को नहीं प्राप्त करता है। अतः हे कौन्तेय ! दोषों से युक्त भी अपने कर्म को छोडना नही चाहिए क्योंकि जैसे धूम से अग्नि आवृत है उसी तरह सभी कर्म दोष से आवृत हैं युक्त है। इतने पर भी जो मनुष्य अपने २ कर्म में अभिरत है वह अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है। अपने कर्म में निरत रहने वाला जिस तरह अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है उसको सुनो। जिससे सम्पूर्ण भूतों की प्रवृत्ति हुई है। जिससे यह सारा संसार व्याप्त है उसकी अर्चना अपने विगुण भी कर्म से करके मानव अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है। और परधर्मो भयावहः दूसरे के धर्म से सिद्धि मिलना तो कठिन है वह तो भयावह है विपत्तियों का जाल है। अपने धर्म के पालन करने में मनुष्य यदि मर जाय तब भी ठीक है अतः उससे दूर रहो और अपने क्षत्रियोचित धर्म युद्ध को करो। यदि अहंकार से हमारी बात को नहीं मानोगे और युद्ध को नहीं करोगे तो नष्ट हो जाओगे अतः युद्ध को करो। इस तरह फलतः सामादि उपायों से अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना ही गीता को सुनाने में भगवान् का मुख्य उद्देश्य था।

प्रश्न—गीता में कर्मादि तीन काण्डों को कुछ आचार्यों ने बतलाया है इसका तो उत्तर नही हुआ।

उत्तर—लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ!

हे अनघ अर्जुन! मैंने दो ही निष्ठायें बतलाई हैं। ज्ञानयोगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्। ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से इष्ट सिद्धि होती है। यहाँ द्विविधा शब्द के द्वारा दो ही ज्ञान और कर्म को कहा है यह ३ रे अध्याय में कहा। फिर ५ वें अध्याय में भी संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। यहाँ उभौ सांख्ययोगौ इस तरह द्विवचन का प्रयोग किया है इससे भी दो ही काण्डों कर्म और ज्ञान को बतलाया है। तीसरे का नाम नहीं लिया है। इसमे भी कर्मयोग का माने यज्ञानुष्ठान को समाधि को श्रेष्ठ बतलाया है क्योंकि "संन्यासो हि महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" भगवान् कहते हैं कि हे महाबाहुशालिन् अर्जुन! विना कर्मयोग के सांख्य को प्राप्त करना मुश्किल है। कर्मयोग शब्द के दो ही अर्थ है यज्ञानुष्ठान और समाधि। इसीलिए आगे १३वें अध्याय में कहेंगे कि—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।
अन्ये त्वेवमजानन्तो श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।

कोई लोग अपने आपे में ध्यान के द्वारा अपने आप से अपने आप को देखते हैं। अन्य लोग सांख्य से ज्ञान से, अपर लोग कर्मयोग से कर्मानुष्ठान से देखते हैं। क्योंकि ये लोग अपने आप में अपने आप से अपने आप को नहीं जान सकते हैं अतः अन्य लोगों से गुरुलोगों से सुनकर जानते हैं अर्थात् कर्मकाण्डप्रधान श्रुतियों को गुरुओं से सुनकर पढकर श्रुतियों के द्वारा जानते हैं। यहां कर्मयोग की दो व्याख्यायें ध्यान और श्रुतियों को बतलाया। अतः आचार्यो का तीन काण्डों वाली गीता को बतलाना प्रौढि है। श्रुतियों के द्वारा भी दो ही धर्मों का प्रतिपादन किया गया है या किया जाता है। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च

महाफला। एक प्रवृत्ति स्वरूप है दूसरा निवृत्तिस्वरूप है। तीसरा कोई नहीं है इनमे प्रवृत्ति प्रधान कर्म है और निवृत्ति प्रधान ज्ञान है। इस तरह यही सिद्धान्त है कि दो ही निष्ठाएं हैं।

इसीलिए द्वितीय अध्याय के ११वें श्लोक अशोच्यान् से ३८वें श्लोक सुखदुःखे समे कृत्वा तक के १८ श्लोकों में आत्मा अजर अमर नित्य शाश्वत है पुराने कपडे को छोड़कर नये कपड़े को पहिरने की तरह पुराने जीर्ण शीर्ण शरीर को छोडकर नये शरीर को धारण करता है क्योंकि यह अच्छेद्यादि है अव्यक्त है अचिन्त्य है अविकार्य है ऐसा समझकर तुमको सोच फिकर नहीं करना चाहिए। और यदि कहो कि आप इसको अजर अमर कहते हैं किन्तु यह तो नित्य पैदा होता है और नित्य मरता है। तब भी सोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह मरना जीना अपरिहार्य है जो पैदा होगा वह मरेगा और जो मरेगा वह पैदा होगा। अतः जो अपरीहार्य है जहां कोई वश नही है वहां सोच क्या। जो सम्पूर्ण भूतों के देह में रहने वाला है वह देही अवध्य है देही को कोई मार नहीं सकता है अतः इन भूतों के विषय में सोच नही करना चाहिए।

इसके अलावा एक बात और भी है कि तुम अपने धर्म को भी देखो और समझो। उसको समझ कर भी विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म प्राप्त युद्ध से बढकर और श्रेय नहीं है। यह तो खुला हुआ स्वर्ग द्वार है। इसको तो कोई ही सुखी क्षत्रिय प्राप्त करते हैं। अगर तुम इस धर्म प्राप्त युद्ध को नहीं करोगे तो अपने धर्म को नष्ट करोगे और कीर्ति को भी गँवा दोगे जिसके बदले में पाप को ही प्राप्त करोगे लोग तुम्हारी अव्यय कभी भी नहीं छूटने वाली अकीर्ति की निन्दा को कहेंगे संभावित पुरुष की अकीर्ति मरने से भी बढ़कर कष्ट कर होती है। दुश्मन तुम्हें गालियां देंगे। तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे और कहेंगे की अर्जुन बडा महारथ बनता रहा जब युद्ध का अवसर आया तब मारे डरके पूंछ दबाकर भाग गया। और जो तुमको महान् समझते थे उनकी दृष्टि में तुम तुच्छ हो जाओगे। इसलिए युद्ध करने का निश्चय करके उठो, मर गये तो स्वर्ग पाओगे और जीत गये तो राज्य को भोगोगे। अतः सुख

दुख को हानि लाभ को और जय पराजय को बराबर समझकर युद्ध में भिडो इस तरह साम दाम भेद एवं दण्ड से युद्ध करने के लिए अर्जुन को समझाकर भगवान् कहते हैं कि यह मैंने सांख्य योग के विषय में तुमको समझाया है अब इसके बाद तुमको कर्मयोग के विषय में समझाता हूं सुनो ऐसा कहकर दूसरे अध्याय के ४० वें श्लोक से कर्मयोग के बारे में जो समझाना शुरु किया वह अठ्ठारवें अध्याय के अन्त तक समझाया। जिसमें २रे अध्याय के ३९ वें श्लोक में कहा है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

इसके बाद भी १८ वें अध्याय के अन्त में ७१ वें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ तथा द्वेष भावना को छोडकर इस हमारे कथन को सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवालों के शुभ लोकों को प्राप्त करेगा।

इस तरह सांख्य एवं योग ये दो ही निष्ठायें या प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ये दो ही धर्म बतलाये हैं तीसरी निष्ठा या तीसरा धर्म नही बतलाया है।

भक्तोऽसि मे सखा चेति ४।३
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ४।११
श्रद्धावान् भजते यो माम् ६।४७
चतुर्विधा भजन्ते माम् ७।१६
एकभक्ति विशिष्यते ७।१७
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ७।२१
मद्भक्ता यान्ति मामपि ७।२३
भजन्तं मां दृढव्रताः ७।२८
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ७।२२

भक्त्या युक्तः ८।१० भक्त्या लभ्यः ८।२२
भजन्त्यनन्यमनसः ९।१३ नमस्यन्तश्च मां भक्त्या ९।१४
मामुपासते ९।१५ ये जनाः पर्युपासते ९।२२
येऽप्यन्यदेवता भक्त्या ९।२३ पत्रं पुष्पं भक्त्या प्रयच्छति ९।२६
भक्त्युपहृतं ९।२६ ये भजन्ति तु मां भक्त्या ९।२९
भजते मामनन्यभाक् ९।३० न मे भक्तः ९।३१
भक्ता राजर्षयस्तथा ९।३३ मन्मना भव मद्भक्तः ९।३४
इति मत्वा भजन्ते मां १०।८ भजतां प्रीतिपूर्वकम् १०।१०
भक्त्या त्वनन्या शक्यः ११।५४ भक्तास्त्वां पर्युपासते १२।१
उपासते २१।२ पर्युपासते १२।३ उपासते १२।६
यो मद्भक्तः स मे प्रियः १२।१४।१६
भक्तिमान् यः स मे प्रियः १२।१७।१९
पर्युपासते भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः १२।२०
भक्तिरव्यभिचारिणी १३।२४ भक्तियोगेन सेवते १३।२६
स सर्वविद्भजति माम् १५।१९ मद्भक्तिं लभते पराम् १८।५४
भक्त्या मामभिजानाति १८।५५ मन्मना भव मद्भक्तः १८।६८
ना भक्ताय १८।६७ मद्भक्तेषु। भक्तिं मयि पराम् १८।६८

इस तरह ४थे अध्याय से १८ वें अध्याय तक १ ले २ रे ३ रे ५ वें १४ वें १६ वें १७ वें अध्यायों को छोड़कर केवल ११ अध्यायों में भजन उपासन एवं आराधन शब्दों के द्वारा भक्ति को भाव को भगवान् ने अर्जुन से कहा है और १३ वें के २६ वें में भक्तियोग शब्द का प्रयोग जरूर किया है परन्तु निष्ठा या धर्म के नाम से नही कहा है और न "ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्" की तरह "कर्मयोगेन योगिताम्" की तरह भक्तियोगेन भजतां या भक्तानां को ही कहा है। किन्तु इस से यहां यह कहा जा सकता है कि मन्दबुद्धि एवं अल्प साधनों वाली जनता को ज्ञान का मार्ग असिधारावलेहन है तलवार की धारा को चाटने के समान है और वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के लिए यज्ञयागादि को करने के वास्ते दृढ़ व्रत

श्रद्धा अननसूया और द्रव्यादि साधन चाहिए जिनका कि अभाव है अतः इस भीषण विकराल कलिकाल में इनका भी कर सकना बहुत ही कठिन है फलतः दोनों के बीच के सुगम मार्ग भाव को भक्ति को आचार्यों ने जनता पर वात्सल्य करके निकाला है इससे यह भी कह सकते हैं कर्म भक्ति एवं ज्ञान का उपदेश अधिकारी के अनुसार इन गीताओं में भगवान् ने दिया है। किन्तु यह नहीं कह सकते हैं कि पहले ६ अध्यायों में कर्म काण्ड का निरूपण है बीच के ६ अध्यायों में माने ७ से १२ तक के अध्यायों में भक्ति काण्ड का कथन है और अन्तिम ६ अध्यायों में यानी १३ से १८ तक के अध्यायों में ज्ञान काण्ड का प्रतिपादन किया है। क्योंकि भक्ति या उपासना या आराध्यना का पहले ६ अध्यायों के अन्तर्गत केवल चतुर्थ अध्याय में है और अन्त के १३।१५।१८ में भी है। इससे सिद्ध हो गया कि दो ही निष्ठायें गीताओं में बतलाई है। जिनमें पहली सांख्य निष्ठा का द्वितीयाध्याय के १२वें श्लोक में आरम्भ है और उसी अध्याय के ३८वें में समापन है। और दूसरी कर्म निष्ठा का उसी अध्याय के ३०वे में आरम्भ है और १८वें अध्याय के ५६वे श्लोक में समापन है। जिसकी पुष्टि १८वें के ६०वें श्लोक सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः में है। बाकी के १८ श्लोकों में फल श्रुति है।

इन दो निष्ठाओं की पुष्टि १८वें के ५०वें श्लोक से भी होती। उसमें भगवान् कहते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा, ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

हे कौन्तेय ! कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त करने वाला पुरुष जिस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त करता है उसको तुम मुझ से समझो। वह प्रकार संक्षेप से ज्ञान निष्ठा है जिस को हमने परा निष्ठा कहा है।

यहां भी यही सिद्ध होता है। कि दो ही निष्ठाये हैं

एक सिद्धान्त है कि ज्ञानरूपी अग्नि संचित और क्रियमाण दो ही कर्मों का नाश करती है प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं करती है। यहाँ "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि" में सर्व पद का जैसे सब ब्राह्मणों को भोजन कराना है इसमें सब देश में सब काल में

रहने वाले ब्राह्मणों को भोजन कराना असम्भव है अतः यहाँ सर्व शब्द का निमन्त्रित सब ब्राह्मण अर्थ में संकोच है वैसे ही प्रकृत में भी प्रारब्ध से भिन्न कर्म अर्थ में संकोच है। हाँ योगरूपी अग्नि प्रारब्ध कर्म का नाश करने में सक्षम है क्योंकि योग दर्शन के विभूति पाद में लिखा है कि योग बल है। यहाँ योग के बल का निरूपण करते समय बतलाया है कि योग को बल इसलिए कहा है कि यह प्रारब्ध कर्म का भी नाश कर सकता है। प्रारब्ध कर्म का भोग से तो नाश होता ही है और योग से भी नाश होता है अतः सांख्य और योग एक हैं यह कथन दुर्बल है। इसलिए दो ही निष्ठायें पृथक् पृथक् हैं यही निर्णय सर्वमान्य है।

अब हम मूल ग्रन्थ में भगवान के अननुभषण रूप विप्रतिपत्ति को और अर्जुन के पर्यनुयोज्योपेक्षण माने प्रष्टव्य अंश के विषय मे उपेक्षा करदेने रूप विप्रपत्ति को कहने का उपक्रम करते हैं।

भगवान् ने जब कहा कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदयप्रदेश में बैठा है। वह अपनी माया से सम्पूर्णभूतों को ऐसे घुमाता है जैसे कारीगर यन्त्र मशीन में चढे हुए पुर्जों को घुमाता है। तब अर्जुन को पूछना था कि "हे भगवन्! मेरे से जो आप कहते हैं कि—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

कहाँ से तुमको यह दोष इस विषम समय में उपस्थित हो गया।" यह कैसे कहते हैं क्योंकि यह दोष तो हृदयस्थ आप ही की प्रेरणा से हे भगवन्! आया है। मुझे व्यर्थ ही दोषी आप बना रहे हैं।

इस प्रष्टव्य आवश्यक अंश को अर्जुन ने नहीं पूछा और भगवान् ने भी अनुभाषण नहीं किया। अर्जुन तो धर्म के विषय मे सम्मूढ़ हो गया था। क्योंकि कार्पण्य दोष से उसका स्वभाव नष्ट हो गया था। अतः उर प्रेरक भगवान् को स्वतः ही कहना चाहिए था। नहीं कहा।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारम् । १४।१५

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । ३।२७

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । १३।२६

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । १३।२०

इस तरह सब जगहों में प्रकृति के गुणों को कर्त्ता कहा गुणों से भिन्न को कर्त्ता नहीं कहा है। पहले भी

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । ५।१०

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया । ५।८

प्रकृति को जगत् की कर्त्री माना है फिर भी

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ।

लिखते हैं मुझको जगत् का कर्त्ता भी समझो और अकर्त्ता भी समझो वेदान्ती लोगों ने भी लिखा है कि —

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः ।

यह भूत एवं भौतिक सृष्टियाँ अविद्या के माया के विलास से होती हैं। मैं कुछ नहीं करता हूं।

इस पर अर्जुन को पूछना चाहिए था कि जब आपने पदे पदे प्रकृति को जगत् की कर्त्री कहा है तब आपने यह कैसे कहा कि जगत् का कर्त्ता भी मुझे समझो और अकर्त्ता भी। इस प्रकार जगह २ पर गीताओं में प्रष्टव्य आवश्यक अंश के पूछने का उपेक्षण अर्जुन ने किया है और भगवान् ने भी स्वयं अनुभाषण नहीं किया। टीकाकारों ने तो बहुत ही बड़ी बड़ी गड़बड़ियाँ की हैं जैसे—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्म विभागशः ।

इसका अर्थ सभी टीकाकारों ने अशुद्ध लिखा है। मालूम पडता है कि सभी लोगों ने मातुलानी घुले हुए मिले हुए जलको पी पीकर के लिखा है। सभी ने लिखा है कि गुण एवं कर्म्मों के विभाग से मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है। क्या मजाक कर रखी है। भगवान् ने स्वयं कहा है प्रकृति के गुंण कर्मों को करते हैं। ३।२७ और १३।२४ में। आगे १८ वें अध्याय के ४१ वें श्लोक में भी है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप !
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।

चारों वर्णों के कर्म गुणों से प्रविभक्त हैं। मनुजी ने भी १।१८ में यही लिखा है जैसे—

मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ।

अलग २ चारों वर्णों के कर्मों की (न कि चारों वर्णों की) कल्पना सृष्टि की है। जब कि भगवान् ने स्वयं कहा है कि—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारम् । ।१४।१६

गुणों से अन्य भिन्न कोई कर्त्ता हैं ही नही तब चारो वर्णों की सृष्टि मैंने की ऐसा टीकाकारों का लिखना कैसे संगत हो सकता है। जब

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः—

प्रकृति के गुण जबरन् कर्म कर वाते हैं। यह जब मूल में लिखा हैं। तब मने सृष्टि की ऐसा टीकाकारों का उल्लेख सर्वथा असंगत है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारम् यदा द्रष्टानुपश्यति ।

यहाँ द्रष्टा जीव को लिखा है वह भी श्रुति से विरुद्ध है। श्रुति कहती है "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" ईश्वर से अन्य भिन्न द्रष्टा है ही नहीं। तदैक्षत उसने देखा। इसी लिए ब्रह्मसूत्रकार ने ईक्षतेर्नाशब्दम् सूत्र बनाया और जीव के द्रष्ट्रत्व का निषेध किया "जीवस्येक्षितृत्वाश्रवणात्। यही बात भाष्य में भी कही है कि जीव के विषय में ईक्षतिश्रुति नही है। जब श्रुति में नही है तब कैसे "यदा द्रष्टानुपश्यति" संगत होगा। इसी तरह और भी असंगतियां है। जब कि स्पष्ट लिखा है कि—

ओं तत् सत् इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः १७।२३।

ओम् १ तत् २ और सत् ३ इस रूप में तीन प्रकार में ब्रह्म का निर्देश माना गया है। अत एव ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जाता है। तब फिर यह लिखना कि—

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्, तन् नासदुच्यते।

वह ब्रह्म सत् नहीं है। कैसे संगत होगा। इस तरह की बहुत सी असंगतियाँ हे भगवन् ! मुझ बालक को मालूम पड़ती है। वस्तुतः असंगति भगवान् के वाक्य में या व्यास जी की रचना में कैसे संभव है भगवान् ही जाने।

कतरन्नो गरीयः २।६ में कतरो नो गरीयान् पाठ होना चाहिए।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्। २।२४ में ब्रह्म को अच्छेद्य अदाह्य अक्लेद्य एवं अशोष्य कहा है ऐसी तो छाया भी है प्रकाश के किरण भी हैं तब ब्रह्म और छाया एवं किरणों में क्या भेद होगा।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे २।५० में जहातीह चोभे पाठ होना चाहिए।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। १०।२०
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन !। १०।३२

यहाँ दोनों श्लोकों में मध्यं के स्थान पर मध्यश्च होना चाहिए। जब यह मध्य शब्द मध्यः मध्या मध्यम् इस तरह तीनों लिङ्गों मे प्रयुक्त होता है तब कोई तुक नहीं है कि आदि के पुलिङ्ग और अन्त के पुलिङ्ग शब्दों के साथ में मध्यं को नपुंसक के रूप में प्रयोग किया जाय। अतः मध्यश्च होना चाहिए।

एवंरूपः शक्य अहम् ११।४८ यहाँ इस पद्य में उपजाति छन्द है अतः तीसरा अक्षर ह्रस्व होना चाहिए। किन्तु यहाँ एवं रूपः में रू यह तीसरा अक्षर गुरु है अतः छन्दो भङ्ग हो रहा है। उसके बाद शक्य अहम् में रुत्व उत्व एवं पूर्वरूप होकर शक्योऽहम् होना चाहिए। इसके लिए "अहं नृलोके ननु शक्य एवं" ऐसा पाठ यहाँ होना चाहिए। स्वकं रूपं में भी तृतीय अक्षर रू दीर्घ है अतः वही दोष यहाँ भी हो गया है इसलिए रूपं स्वकं पाठ यहाँ होना चाहिए। १०।५०

शक्य अहमेवंविधः ११।५४ में शक्यः सोहमेवं विधः ऐसा पाठ होना चाहिए।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः
माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्। १७।६

यहाँ "शरीर के भीतर स्थित मेरा भी कर्षण करते हैं।" ऐसा लिखा हैं। यद्यपि शरीर के भीतर पंचमहाभूतों का लिखना ठीक नही है क्योंकि भूतग्रामस्वरूप ही तो शरीर है तद्यपि राहोः शिरः की तरह व्यवस्था हो सकती है। किन्तु यह तो जरा विचारणीय है कि जिसको गीताओं में पद पद पर अजर अनश्वर अव्यय अविकारी अच्छेद्य अदाह्य अक्लेद्य एवं अशोष्य कहे हैं। उसी को यहाँ कर्षणीय कहते हैं। वह कैसे संगत होगा। प्रकृति के बारे में भी बड़ा झमेला है।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। ३।५

प्रकृतेः क्रियमाणानि। ३।२६

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः। ३।२९

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ३।३३। इनमें प्रकृति शब्द का क्या अर्थ है।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया। ।६

यहाँ प्रकृति को भी लिखते हैं और माया को भी लिखते हैं। क्या प्रकृति और माया दो पदार्थ हैं दो तत्त्व हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च

अहंकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। ७।४

यहाँ पाँच महाभूतों को और तीन प्रकार के अन्तः करण को अपरा प्रकृति कहा है। चित्त को छोड़ दिया है। चित्त भी तो अन्तः करण है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महावाहो ! ययेदं धार्यते जगत्॥ ७।५

यहाँ जीव को प्रकृति कहा है। यह परा प्रकृति है। किन्तु प्रकृति जड़ा है अचेतन है। और जीव तो (जीवो ब्रह्मैव नापरः) ब्रह्म ही है ब्रह्म से अपर भिन्न नहीं है। यह श्रुति है। स्मृति गीताओं में भी।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

जीव को सनातन चेतन अजड कहा है। कैसे संगति होगी।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। ७। १४ माययापहृतज्ञाना: । ७। १५। यहां माया शब्द से किसको कहा है। स्मृति में कहा है मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् प्रकृति का सहारा लेकर अपनी माया से पैदा होता हूं। यह सगति कैसे होगी।

सर्व भूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। ९। ७

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य। अवशं प्रकृतेर्वशात्। ९७। यहां सब भूत प्रकृति में प्रयाण कहते हैं। मैं अपनी प्रकृति के सहारे सामर्थ्य से अवश सब भूतों की पुनः विसृष्टि करता हूं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चाचिरम्। ९।१०। मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सारे चर अचर का प्रसव करती है।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।९।१२

महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमास्थिताः।९।१३

यहां राक्षसी आसुरी एवं दैवी तीन प्रकृतियां बतलाई हैं। कहते हैं कि यहां की प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है परन्तु कोशकारों ने राक्षसों को देवयोनि कहा है।

विद्याधराप्सरोयक्षरक्षो: भूतोऽमी देवयोनयः।

अतः राक्षसी प्रकृति दैवी प्रकृति से भिन्न नही हुई। यदि कहें कि ये भी देव योनि विशेष हैं देव नही है जैसे शूद्र मनुष्य विशेष है परन्तु ब्राह्मण नही है उसी तरह इनको भी समझो। तब भी असुर माने सुरों के द्रोही जैसे हैं वैसे राक्षस सुरद्रोही हैं अतः राक्षसी और आसुरी दो नही हुई। एक बात और भी है आगे १६ वें अध्याय में दैवी और आसुरी दो प्रकार की सम्पत्ति बतलाई है राक्षसी नहीं बतलाई है उसका कारण है राक्षसी का आसुरी में अन्तर्भाव है।

प्रकृतिं पुरुषं चैवं प्रकृतिसंभवान् ।१३।२०
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।१३।२०
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।१३।२१
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।१३।२३
प्रकृत्यैव च कर्माणि । १३।२९ भूतप्रकृति मोक्षं च । १३।३४
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः । १८।४०
गुणा प्रकृतिसम्भवाः । १४।५

यहाँ इन पद्यों में प्रकृति त्रिगुणात्मिका माया है या अन्य है ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च । १६।६
आसुरीष्वेव योनिषु । आसुरीं योनिमापन्नाः । १६।१९।२०
विद्धि आसुरनिश्चयान् । १७।६

यहाँ दैव एवं आसुर दो ही सृष्टि एवं योनियाँ बतलाई है राक्षस नहीं बतलाई है ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य । १८।६६

पहले भगवान् कह आये हैं कि प्रतिज्ञा किये हैं कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् । ४।७

हे भारत ! जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूं ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

साधु पुरुषों की रक्षा दुराचारियों का नाश और धर्म की सम्यक् स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूं। और यहाँ कहते हैं सब धर्मों को छोड़ दो। धर्म के पचड़े में मत पड़ो। यह कैसी परस्पर विरोधी कथनी है। जो धर्म की सम्यक् स्थापना करने को आया है। वह भी प्रतिज्ञा पूर्वक आया है वही धर्म सम्मूढचेता को कहे कि धर्म को छोड़ो। बड़े मजे की कहानी है।

इस तरह जैसी बुद्धि दई। जो जो समझ में आया। हे भगवन् ! अन्तर्यामी आप हैं आप ही प्रेरणा देते हैं। अतः जो भी मैंने लिखा है वह सब आप की प्रेरणा से अपने आपको शुद्ध करने के लिए अपने अज्ञान को दूर करने के लिए लिखा है।

तद्बुद्धयस्तदात्मान एवं मन्मना भव मद्भक्तः के अनुसार आपही में मेरी बुद्धि हैं आपही में आत्मा है आपही में मन है चित्त है अहंकार हैं अतः आप को शरण रक्षक मानता हूं।

मधुसूदन शास्त्री

प्राचीन डीन, फैकल्टी आफ दि ओरियण्टल लर्निंग बनारस हिन्दू यूनिवरसिटी
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

ओं तत्सत्परब्रह्मणे नमः

श्रीवेदव्यासप्रणीतमहाभारतान्तर्गता

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

आचार्यश्रीमधुसूदनशास्त्रिप्रणीतमधुसूदनीबालक्रीड़ाख्यसंस्कृत-
हिन्दीटीकाभ्यां संवलिता ।

तत्र प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

मधुसूदनी

अस्य श्रीभगवद्गीताशास्त्रमन्त्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः। प्रायेणानुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता। अशोच्यानन्वशोचस्त्व-मिति बीजम्। सर्वधर्मान् परित्यज्येति शक्तिः। ऊर्ध्वमूलमधःशाखमिति कीलकम्। मम सकलाभीष्टसिद्धिसमृद्धरुत्तरं मोक्षार्थे जपे विनियोगः।

बालक्रीड़ा

अथ अब श्रीगीता का आरम्भ करते हैं। गीता शब्द का अर्थ है गाई हुई। अतः यह विशेषण है। यहाँ कर्म में क्त प्रत्यय है। क्यों कि आकांक्षा होती है कि गाई हुई क्या है। इसका विशेष्य है उपनिषद्। इसी लिए गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में पुष्पिका में लिखा है कि श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु।

इस सन्दर्भ में यह बतलाना बहुत ही आवश्यक है कि इन उपनिषदों का ज्ञान अर्जुन को किस प्रसङ्ग में हुआ। वह प्रसङ्ग यह है कि अर्जुन राज्य के लिए शत्रुओं को जीतना चाहता है। वे शत्रु प्रकृत में धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन वगैरह हैं। अतः उनके साथ अर्जुन को युद्ध करना प्राप्त हो गया। इस कार्य में सहायता करने के लिए प्रस्तुत हुए भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रथ पर चढ़कर जब अर्जुन युद्ध करने के वास्ते युद्धभूमि

मधुसूदनी

अस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि उच्यन्ते। मोक्षस्तावत्प्रयोजनम्। स च गीताशास्त्रप्रतिपादितात् परमात्मस्वरूपावबोधादेवेति परमात्मस्वरूपमभिधेयम्। परमात्मस्वरूपावबोधेन सह अस्य श्रीगीताशास्त्रस्य साध्यसाधनलक्षणः सम्बन्धः। इत्येवं विशिष्टप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धवद् गीताशास्त्रम्।

धृतराष्ट्र इति तात्कालिकस्य कुरुराजस्य संज्ञा। यद्यपि संज्ञाशब्दानां निर्वचनं नास्ति तद्यपि अभिप्रायविशेषं हृदि निधायैव पितरो नाम कुर्वन्ति इत्यस्ति विशेषोऽत्र अतः तन्निरुच्यते। धृञ् धारणे। धृङ् अवबन्धने। ध्रञ् अवस्थापने इति पृथगर्थेषु एतेषु धातुषु प्रथमस्मात् क्ते कृते धृतं बलाद् धारणेन गृहीतम्। द्वितीयस्माद् धृतं बद्धम्। तृतीयस्मात् धृतमवस्थापितम्। इत्येतेऽर्थाः स्युः। तत्र कुरुराजस्य तदानीन्तनस्य अन्धत्वात् शासनानर्हतया बलाद् धारणेन गृहीतम् इति प्रथमार्थेन, धृतं बद्ध कथमपि इतस्ततः सञ्चलितुं दुःशकमिति द्वितीयार्थेन तस्य शासनायोग्यता

बालक्रीड़ा

में पहुँचा तब वहाँ दोनों सेनाओं के मध्य में युद्ध करने के लिए कमर कस कर सन्नद्ध हुए आचार्य, चाचा, पितामह, पुत्र, मित्र, एवं सगे सम्बन्धियों को उसने देखा और विचार करने लगा कि मुझे इनको मारना है, ये मेरे लिए मारे जायेंगे। अहो बड़ा भारी दुष्कर्म करने के लिए हम तैयार हो गये हैं। इसके बाद शोक एवं मोह से विह्वल होकर बहुत प्रलाप किया और अन्त में मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा कह कर अर्जुन युद्ध से विरत हो गया।

ऐसी स्थिति में वास्तविकता की नासमझी के कारण उद्रिक्त हुए शोक एवं मोह द्वारा विवेक के भ्रष्ट हो जाने से क्षत्रियोचित धार्मिक युद्ध का परित्याग एवं भिक्षाचरणरूप परधर्म की अभिसन्धि में तत्पर अर्जुन का विश्व के कल्यण के लिए अवतार लेने वाले परमकारुणिक भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने धर्मज्ञान के रहस्य का उपदेश देकर शोक मोह रूपी समुद्र से उद्धार किया।

इसी भगवदुपदिष्ट अर्थ का ग्रन्थ के रूप में उपनिबन्धन भगवान् वेद व्यासजी ने सातसौ श्लोकों में किया है।

मधुसूदनी

व्यन्यते। अत एव स्वपुत्रान् मामका. ममतास्पदभूता इति कथयति। भ्रातुष्पुत्रान् पाण्डवा इति नामग्राहं व्यवहरति। एतेन तेपु अस्य ममता स्नेहश्च नास्ति इति सूच्यते। किन्तु राजा प्रकृतिरञ्जनादित्युक्तेरुचितं तस्य—

द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता॥

इत्येतादृशव्यवहरणम्। तन्न कृतमित्ययोग्यतैव। धर्मक्षेत्रे धर्मप्रसव-भूमौ।

अत्र युयुत्सव इत्यस्य स्थाने युयुत्सया इति पाठ उचितः। अन्यथा सन्नथ इच्छा कर्त्तरि गुणभूता सती विधेयाविमर्श प्रसज्जयति॥१॥

बालक्रीड़ा

उनमें "धर्मक्षेत्रे" इससे आरम्भ कर के विषोदन्निदमब्रवीत् यहाँ तक के ग्रन्थ से श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के प्रस्ताव के लिए व्यास जी ने कथा का निरूपण कर दिया है। उसके बाद ग्रन्थ की समाप्ति तक उन दोनों के संवाद को लिखा है।

यहाँ पर धर्मक्षेत्रे इस श्लोक के द्वारा हस्तिनापुर में समीप में रहने वाले अपने सारथि सजय से कुरुक्षेत्र सम्बन्धी वृत्तान्त के बारे में धृतराष्ट्र के पूछने पर सञ्जय हस्तिनापुर में स्थित रहकर भी व्यास जी की कृपा से प्राप्त हुए दिव्य चक्षु के प्रभाव से प्रत्यक्षदर्शी की तरह कुरुक्षेत्र के वृत्तान्त को धृतराष्ट्र से निवेदन कर रहे हैं कि 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्" इत्यादि।

यह भगवान् श्रीकृष्ण का उपनिषदों के गाने का उपोद्घात है। अब ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।

धृतराष्ट्र उवाच। यहाँ उवाच का प्रसङ्ग [किमकुर्वत कया किया] के अनुसार [पप्रच्छ] पूछा अर्थ है। क्योंकि धर्म की उत्पत्ति जहाँ हो जाती है ऐसे क्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से समवेत मेरे एवं पाण्डु के पुत्रों ने युद्ध किया या नहीं ऐसा पूछना चाहिए था किन्तु वैसा नहीं पूछकर सामन्यतः पूछते हैं कि क्या किया अतः युद्ध के होने एवं न होने के विषय में धृतराष्ट्र को संशय है कि क्षेत्र में बीज का अङ्कुरित

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

मधुसूदनी

व्यूढमिति । वज्रसूचीप्रभृतिष्वेकतमव्यूहस्य रचनया विन्यस्तं संहतं वा पाण्डवानीकं पाण्डवबलम् । उपसङ्गम्येत्यत्र उप आधिक्यार्थे । आधिक्यश्च सम्मानमेव तेन ससम्मानं संगम्य ॥२॥

बालक्रीड़ा

होना अङ्कुरित का फल के रूप में परिणत होना क्षेत्र का स्वभाव है । तदनुसार यह कुरु राजा का क्षेत्र धर्मक्षेत्र है । अतः यहाँ धर्मरूपी बीज का अङ्कुरित होना और अङ्कुरित का फल के रूप में परिणत होना आवश्यक है । यही प्रश्न का बीज संशय है । पाण्डव तो धर्मांकुर वाले हैं और मेरे पुत्रों में भी क्षेत्र के माहात्म्य से धर्म का अङ्कुरित होना सम्भव है अतः हे संजय ! धर्म के क्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुए मेरे एवं पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ।

आत्मा की तरफ से यानी आत्मा के विषय में अन्धा अज्ञानी अत एव भेदवादी धृतराष्ट्र यही सोचता है कि क्षेत्र के प्रभाव से मेरे पुत्रों का राज्य सर्वथा ही गया । क्योंकि धर्मक्षेत्र के प्रभाव से इनके मन में धर्म का अंकुर यदि पैदा हुआ तो ये अपना राज्य पाण्डवों को स्वतः विना युद्ध के ही दे देंगे और यदि युद्ध हुआ तो धार्मिक की ही विजय होती है अतः पाण्डुपुत्र ही जीतेंगे । हर हालत में राज्य उनको ही मिलेगा ॥१॥

यहाँ गीता के सम्पूर्ण आद्योपान्त प्रकरण में बस यह एक बार ही धृतराष्ट्र ने पूछा ऐसा वाक्य आरम्भ में आया है । बाद में कहीं भी धृतराष्ट्र का नाम नहीं आया है । अतः यह अधूरा विषय है । क्योंकि ग्रन्थकार ने उपक्रम तो धृतराष्ट्र से किया और उपसंहार अर्जुन से किया है । गीता का आरम्भ एक अन्धे के द्वारा हुआ है । अन्धे, काने, लूले, लँगड़े लोगों का आरम्भ में उपन्यास करना उचित नहीं हैं तब भी भगवान् के सम्बन्ध के इसमें अनुस्यूत होने से यह ग्रन्थ सार्वभौम है और सुप्रतिष्ठित है ।

दुर्योधन उवाच

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

मधुसूदनी

पश्येति । अत्र पद्यारम्भात्पूर्वं संजय उवाच अर्जुन उवाच इतिवद् दुर्योधन उवाच अथवा राजोवाच इत्यस्यावश्यकता वर्त्तते । परमियं गीता सप्तशती तथाकथने श्लोकसंख्या वर्द्धेत इति कृत्वा नोल्लिलेख ग्रन्थकारः ॥३॥

बालक्रीड़ा

धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए संजय ने 'राजा दुर्योधनो वचनम ब्रवीत्" ऐसा कहा । यहां अब्रवीत् क्रिया के कर्त्ता के राजा और दुर्योधन ये दो विशेषण यह जताते हैं कि दिखाऊ नीति रखने वाला और दुष्टता से युद्ध करने वाला व्यक्ति कभी सुलह नहीं कर सकता है अतः ऐसा संशय कभी मत करियेगा कि धर्म के अङ्कुरित हो जाने से दुर्योधन विना ही युद्ध किये अपना राज्य पाण्डवों को दे देगा ।

यहाँ वचन बोला का यह भाव है कि अर्थ रहित केवल वचन बोला ।

वज्र, चक्र एवं सूची नामक व्यूहों में सेना की व्यवस्था की जाती है उनमें से किसी एक रचना विशेष से अवस्थित पाण्डवों की सेना को दुर्योधन ने देखा और आचार्य के समीप जाकर वचन बोला ॥२॥

दुर्योधन ने कहा कि हे आचार्य ! पाण्डु के पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखो । जिसको तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र ने रचना विशेष से स्थापित कर रखा है । व्यूह शब्द का अर्थ है सेना का विन्यास । प्रकृत में कौरवों ने अपनी सेना को चक्रव्यूह के रूप में स्थापित कर रखा था उसको देखकर धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों की सेना को सूची व्यूह के रूप में स्थापित किया । वज्राकार भी व्यूह होता है ।

यहाँ दुर्योधन ने गुरु से कौटिल्य किया है । गुरु जी के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए धृष्टद्युम्न में द्रुपदरूपशत्रुपुत्रत्व, बुद्धिमत्व एवं तवशिष्यत्व इन तीन विशेषणों का उपन्यास करके पुराने वैर को याद दिलाया है और कहा कि— पहले विद्या ग्रहण के समय में द्रुपद ने हें

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

मधुसूदनी

अत्रेति। महेष्वासा इति युधि भीमार्जुनसमा इति च युयुधानादीनां विशेषणे। इषवो बाणा अस्यन्ते एभिरिति इष्वासानि धनूंषि। महान्ति इष्वासानि येषां ते महेष्वासाः। इदन्तु बोध्यम्। महेष्वासधारित्वादर्जुन-समत्वं स्यात् किन्तु तद्वत्वाद् भीमसमत्वं नायाति। यतो हि भीमस्य केवलं गदायुद्धज्ञत्वात्। अत एव युधीतिपदेन युद्धकरणविषये तत्समत्वं स्फोरितम्। यः अतिशयेन युध्यते स युयुधानः सात्यकिर्महारथः। विगता राजो यस्मिन् स विराटो महारथः। त्रिपु अस्यान्वयः ॥४॥

सर्व एवेति। महारथाः प्रकृते युद्धप्रङ्गात् युद्धोत्सवाय महान्तः आसमन्ताद्रथा लक्षणया युद्धसामग्र्यः शस्त्रास्त्रायुधादयः येषां ते। अत्र चतुर्विधा योद्धारः। एको रथी, य एकेन सह युध्यते। द्वितीयः अर्धरथी यस्तन्न्यूनः। रथो त्वेकेन यो युध्येत्तन्न्यूनोऽर्धरथो मत इत्युक्तेः। यद्यपि

बालक्रीड़ा

आचार्य आपसे अपने राज्य का आधा हिस्सा देने का वायदा किया था किन्तु फिर पीछे जब देने का अवसर आया तब वह बदल गया। अतः आज मौका है आप भी शत्रु का संहार करके वैर का बदला लीजिए ॥३॥

इस सेना में बड़े भारी धनुष को धारण करने वाले शूर है जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान लड़ाकू हैं। जैसे युयुधान [सात्यकि] विराट और द्रुपद। ये महारथ हैं। जो अकेला दश हजार धनुर्धारियों के साथ युद्ध करता है और शस्त्र विद्या में निपुण होता है वह महारथ होता है। यह विशेषण इन सब में अनुस्यूत है महारथ सात्यकि महारथ विराट और महारथ द्रुपद ॥४॥

धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैव्य ये सभी प्रशस्त वीर्य वाले हैं तथा नरपुङ्गव हैं अर्थात् इनमें पराक्रम की अपेक्षा दूसरा गुण मनुष्यता भी हैं जो वृत्तशौटीर्य से होती है ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ! ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

मधुसूदनी

युध् धातोरात्मनेपदित्वाद् युध्येत इति तद्यपि युध्यतुमिच्छेदिति विग्रहे युध्येदित्यपि साधुना प्रयोगेण भवितव्यम् । तृतीयो महारथः सः । एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनः । अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः इत्युक्तेः । चतुर्थः अतिरथः सः । अमितान् योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । इत्युक्तेः ॥६॥

अस्माकमिति विशिष्टाः पाण्डवसेनानीभ्योऽपि श्रेष्ठाः । श्रेष्ठत्वञ्च आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन्नक्षतमायुधैः । यो युध्यत्ययुतैर्वीरैः स महारथ उच्यते इत्युक्तलक्षणवत्वं महारथत्वम् ।

विविधमीरयन्ति पलाययन्ति शत्रून् ये ते वीराः तैः सह युध्यते इति भावः । नायका युद्धे जयप्रापकाः । णीञ् प्रापणे इत्यस्मात्कर्त्तरि ण्वुल ।

बालक्रीड़ा

विक्रान्त युधामन्यु वीर्यवान् उत्तमौजा सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु एवं प्रतिविन्ध्यादि पांच द्रौपदी के पुत्र ये सभी महारथ हैं। एवकार से यह बोधन होता है कि इस सेना में ये ही महारथ हैं ऐसी बात नहीं है और भी महारथ हैं जो अयुतर धनुषधारियों से युद्ध कर सकते हैं ॥६॥

हे द्विजोत्तम ! हमलोगों में भी जो बलवान् हैं विशिष्ट हैं सबसे उत्कृष्ट हैं उनको आप समझ लें। मेरी सेना के जो नायक हैं नेता हैं उनको आपकी जानकारी के लिए मैं कहता हूँ। यहाँ द्विजोत्तम ! इस सम्बोधन से ब्राह्मणत्व और वाक्शूरत्व, नायकाः इस बहुवचन से बहुनायकत्व (अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः) एवं तत्प्रयुक्त अविश्वसनीयत्व तथा संज्ञार्थं ब्रवीमि इससे उनकी स्वतः अप्रसिद्धता ध्वनित होती है। ऐसा भी पण्डित लोग कहते हैं वह सब पदार्थ है ॥७॥

आप कौरवों और पाण्डवों के सबके गुरु हैं। भीष्म हम सबके पितामह हैं। कर्ण सूर्यप्रदत्त कवच कुण्डलधारी एवं शक्तिशाली है। कृप हम सबके उपाध्याय हैं। यहाँ समितिञ्जयः इसमें सभाच समितिश्च इस

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

मधुसूदनी

प्राग्वार्त्तारम्भकाले अस्माकमिति पश्चान् मे इति पदे द्योतयतः यत्पूर्वमुदारभावादहमयं भवांश्च सर्वेऽप्येकतानाः पश्चादहंभावमापन्नस्तस्माच्च्युतः । इति । अस्माकन्तु इत्यत्र तुशब्दोऽप्यर्थकः तेन न तेषामेव महारथा अस्माकमपि तेभ्यो विशिष्टाः । संज्ञार्थं सम्यग्ज्ञानार्थम् ज्ञाने सम्यक्त्वञ्च प्रकृतोपयोगिविषयस्फोरणार्थत्वम् । तान् निबोध तान् ब्रवीमि इति तान् पुनरुक्तिः चिरकालतो गवेषितयुद्धावसरप्राप्तिजन्यं हर्षोद्रेकं स्फोरयति । भयादिति केषाञ्चनोक्तं क्लैब्यमेव । भवान् स त्वं यदुपदिष्टयुद्धविद्यया अर्जुनः पशुपतिमपि जिगाय । भीष्मो य एकविंशतिवारं निःक्षत्रियां पृथिवीं कृतवन्तं जामदग्न्यमपि अवदुधाव । कर्णः यः सूर्याज्ञिव्यकवचशक्तिकः । कृपः यः (कृ हिंसां पाति रक्षति पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वः अतः) हिंसनशीलः अत एव समितिंजयः युद्धे विजयं करिष्णुः । अश्नुते स्थाम बलं यस्य स अश्वत्थामा द्रोणाचार्यपुत्रः । विकर्णा यस्य धनुष्टंकारेण शत्रवो विकर्णा बधिरा जायन्ते । सौमदत्तिः भूरिश्रवाः । जयद्रथः सिन्धुराजः ॥८॥

त्यक्तजीविता इति । त्यक्तं जीवितं यैस्ते मृता इत्यर्थः । तादृशाः कथं योत्स्यमानाः स्युः । अतो जीवितव्ययेनापि भवदर्थं साधयिष्याम इति कृतप्रतिज्ञाः । एवं हि ते मदर्थे त्यक्तजीविता इत्युच्यन्ते इति ॥९॥

बालक्रीड़ा

श्रुतिवाक्य तथा सेवा समिति संसदः इस कोश से समिति शब्द का सभा अर्थ है इससे कृपाचार्य की सभाप्रवीणता ध्वनित होती है तथा समित्याजिसमिद्युधः इस कोश के अनुसार कृपाचार्य युद्ध विजेता शूर हैं। यह वीरतापोषक शब्द है। अश्वत्थामा, विकर्ण (दुर्योधनभ्राता अथवा कर्णपुत्र) सौमदत्ति सोमदत्त का पुत्र । तथैव च का अर्थ है कि ये वैसे ही हैं जैसे पहले वाले हैं ॥८॥

और भी बहुतेरे शूर हैं जो मेरे लिए त्यक्तजीवित है। यहाँ भूत

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

मधुसूदनी

अपर्याप्तमिति । यः सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ! इत्यवादीत्स स्वबलं नालं न परिपूरणमिति साम्प्रतं कथं कथयेदत एवं व्याख्याऽत्र । यद् बलं परि नास्ति आप्तं प्रत्ययितं विश्वासयोग्यं तत् पर्याप्तम् अविश्वसनीयम् । यन्न पर्याप्तं यन्न अविश्वसनीयं तदपर्याप्तमवश्य विश्वसनीयम् । आप्तः प्रत्ययितस्त्रिषु इत्यमरः । अपपरी वर्जने १।४।८८। परेर्वर्जने ८।१।५। इति । परिवर्जने निषेधे इति सिद्धान्तकौमुदी तत्त्व-बोधिनी च । एवं हि भीष्माभिरक्षितं बलमपर्याप्तमवश्यं विश्वसनीयम् । भीष्मस्य रणकुशलत्वान्महाप्रभावशालित्वाच्च । अत एवोक्तं भारविणा यस्मिन् पराभूत इवान्तकोऽपि जातो ह्यनैश्वर्यकृतव्यलीकः" यस्मिन्

बालक्रीड़ा

कालिक क्तप्रत्यय के निर्देश से यह ध्वनित होता है कि प्राणों की भी बाजी लगाकर हम आपके उद्देश्य को सिद्ध करेंगे ऐसा भाव उन लोगों का है । ये सब नाना प्रकार के शस्त्रों के प्रहार में कुशल हैं एवं युद्ध में प्रवीण हैं ॥६॥

यह हमारा बल भीष्म से अभिरक्षित होने से अपर्याप्त है, अत्यन्त विश्वसनीय है और इन पाण्डवों का बल तो भीम से अभिरक्षित होने से पर्याप्त है अविश्वसनीय है ।

यहाँ "आप्तः प्रत्ययितस्त्रिषु" इस अमरकोष के अनुसार आप्त का अर्थ है प्रत्ययित माने विश्वसित । क्यों कि "प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञान विश्वासहेतेषु" इस कोश से प्रत्यय का अर्थ है विश्वास और प्रत्यय विश्वास जिसमें हो गया वह प्रत्ययित है विश्वसित है माने विश्वास करने के योग्य है । तथा परि का अर्थ अपपरी वर्जने १।४।८८ एवं परेर्वर्जने ८।१।५ इन सूत्रों के निर्देश से वर्जन माने नहीं । अतः पर्याप्त का अर्थ हैं विश्वास करने के योग्य नहीं है । अपर्याप्त में अ के माने नहीं और परि के माने भी नहीं । इस तरह दो निषेध प्रकृत अर्थ की दृढ़ता के द्योतक हैं अतः विश्वास करने के योग्य नहीं है ऐसी बात नहीं है अपि तु अवश्य विश्वास करने के योग्य है ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्वं एव हि ॥११॥

मधुसूदनी

भीषमविषये रणकुशलतया पराभवं प्राप्तवान् अन्तकोऽपि अनैश्वर्यादसामर्थ्यात् कृतव्यलीक इव लज्जित इव। पराभवफलं लज्जा अतः पराभूतोस्मि इति लज्जा न तु लज्जित इति पराभूतः। पाण्डवानां बलं पर्याप्तमविश्वसनीयम् भीमस्य रणकौशलाभावात् ॥१०॥

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु इति। प्रधाने हि कृतो यत्नः फलवान् भवतीति न्यायात् ॥११॥

बालक्रीड़ा

इसलिए प्रकृत में अपर्याप्त का उक्त अर्थ लिखा है क्योंकि भीष्मपितामह रणविद्या में कुशल हैं। यह इन्हों की विशेषता थी कि भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्ध में शस्त्रग्रहण नहीं करूंगा किन्तु आपने उनसे युद्ध में शस्त्र ग्रहण करवा दिया। इसी विशेषता के बदौलत ही भारवि ने उनके बारे में कहा है कि—

त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्।
यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन् धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः॥

यहाँ एक प्रासङ्गिक चर्चा भी कर देते हैं कि इस पद्य में पूर्वार्ध के प्रथम और द्वितीय पादों में परिवर्तन आवश्यक है अन्यथा सौष्ठव एव औदार्य विशेष से शालिनी भारवि-भारती नहीं होगी। अतः यस्मिन् पराभूत इवान्तकोऽपि जातो ह्यनैश्वर्यकृतव्यलीकः। ऐसा पाठ उचित है। क्योंकि पराभूत कर दिया गया हूँ ऐसी लज्जा का अनुभव यमराज ने किया। न कि लज्जित हूँ इसलिए पराभूत हूँ ऐसा अनुभव यमराज ने किया। अतः हमारे निर्दिष्ट पाठ में ही उद्देश्य एवं विधेय की व्यवस्था हो पाती है अन्यथा नहीं ॥१०॥

आप सब ही अयन युद्ध के आरम्भ एवं समापन की सन्धियों में विभाग से स्थित हुए भीष्म की ही रक्षा करें। यहाँ दो एवकारों ने यही बोधन किया कि भीष्म दोनों पक्षों के लिए समान हैं और मुख्य हैं अतः इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

बालक्रीड़ा

बल, ज्ञान एवं अवस्था में कुरुवंशियों में वृद्ध भीष्मपितामह ने दुर्योधन के हृदय में हर्ष को पैदा करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद करके शङ्ख को बजाया। यहाँ प्रतापवान् विशेषण से यह दिखाया कि क्षुद्र बुद्धियों के अविश्वास प्रकट करने पर भी प्रतापी लोग क्षुद्र नहीं होते हैं ॥१२॥

भीष्मपितामह के द्वारा शंख बजाने के बाद अन्य लोगों के शंख तथा भेरी (दुन्दुभि) पणव (नकीब) आनक (पटह ढोल) गोमुख (रणसींगा) इत्यादि सब बाजे एक साथ बजने लगे। जिससे वह शब्द तुमुल हो गया यानी बड़ा घोर हो गया ॥१३॥

इस तरह दुर्योधन की सेना के रणवाद्यों के बजने के बाद श्वेत घोड़ों से युक्त बड़े भारी रथ में बैठे हुए माधव मायापति श्रीकृष्ण और पाण्डु के पुत्र अर्जुन ने अपने-अपने दिव्य शंखों को बजाया ॥१४॥

इस तरह सामान्य रूप से शंखों के बादन को कहकर अब पृथक्-पृथक् शंखों के नामों का निर्देश करते हुए कहते हैं कि हृषीक इन्द्रियों के ईश नियन्ता श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य और उत्तरी कुरुओं को जीतकर धन को लाने वाले अर्जुन ने देवदत्त एवं रण में भयङ्कर कर्म करने वाले वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक बड़े भारी शंख को बजाया ॥१५॥

कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल ने सुघोष एवं सहदेव ने मणिपुष्पक शंख को बजाया ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः, शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ! ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ॥१९॥
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

मधुसूदनो

हृदयानि व्यदारयदिति । चेद् धार्तराष्ट्राणां हृदयानि विदीर्णानि तर्हि ते मृता एव हार्दं स्फुटितमस्यार्थादयं मृत इति व्यवहारात् । सति मरणे "अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः" इत्यग्रिमोक्तिः कथं सङ्गच्छेत । अतः उत्प्रेक्षते व्यदारयदिव ॥१९॥

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते इति शस्त्रस्य सम्पातो यस्मिन् तस्मिन् शस्त्रसम्पाते युद्धे । अवर्ज्यो व्यधिकरणो बहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद इति वामनोक्तेरत्र

बालक्रीड़ा

काश्य बड़े भारी धनुष को धारण करने वाले काशीराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट एवं अपराजित सात्यकि तथा द्रुपद, द्रौपदेय दोपदी के सभी पुत्रों और सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु ने हे पृथिवी-पते । अलग २ शंखों को बजाया ॥१७।१८॥

आकाश और पृथिवी को अपनी ध्वनि से आपूरण करते हुए उस तुमुल घोष ने हे धृतराष्ट्र! आपके पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया । यहाँ धार्तराष्ट्राणां विशेषण से दुर्योधनादिका अन्धपुत्रत्व, उससे कार्या-कार्य ज्ञान शून्यता, उससे घोष मात्र के श्रवण से हृदय की विदीर्णता भी पुष्ट होती हैं । जिससे कार्यारम्भ में हृदयकम्पनरूप अपशकुन से पराजय ध्वनित होता है ॥१९॥

अथ अब सबके बाजों के बजने के अनन्तर कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को युद्ध के लिए विभाग से खड़े देखकर हे महीपते ! शस्त्रसम्पात

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ! ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

मधुसूदनी

व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । प्रवृत्ते इत्यत्र आदिकर्मणि क्तः । अतः शस्त्र-सम्पातप्रवृत्तेः प्रथमक्षणे युद्धारम्भकाले एव ॥२०॥

बालक्रीड़ा

के लिए प्रवृत्ति करने के समय में या शस्त्रसम्पातरूपी क्रिया के प्रथम क्षण में अर्थात् युद्ध के आरम्भ होने के पहले धनुष को ऊपर में करते हुए हृषीकेश को यह वाक्य कहा कि हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करो ।

यहाँ प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते में प्रवृत्ते यह शस्त्रसम्पात का सम्बन्धी है इसमें आदि कर्मणि क्तः इस सूत्र से क्रिया के आदि क्षण में क्तप्रत्यय हुआ है अतः इसका ऊपर निर्दिष्ट अर्थ है । अथवा शस्त्र का संपात होता है जिसमें ऐसे शस्त्रसंपात माने युद्ध स्थल में धार्त्तराष्ट्रों के धृतराष्ट्र के पुत्रों के प्रवृत्त होने पर धनुष को सज्ज करके यह वाक्य कहा ।

यहाँ अर्जुन के लिए कपिध्वज विशेषण के प्रदान करने से यह प्रतीत होता है कि अर्जुन के ऊपर हनूमान् जी का पूर्ण प्रभाव है अत एव ऐसे अवसर में निर्भयता के साथ सेनाओं के सम्मुख खड़े होकर उनको देखते हैं इससे अर्जुन की समीक्ष्यकारिता ध्वनित होती है । जो नीति-निपुणता से विजयलाभ का सूचन करती है ॥२०-२१॥

युद्धारम्भ में योद्धा के कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं कि युद्ध की कामना से उपस्थित हुए आये हुए या अवस्थित हुए खड़े हुए इन योद्धाओं को जब तक देख न लूँ तब तक रथ को खड़ा रहने दो । क्योंकि इस रण समुद्यम में किनके साथ मुझे युद्ध करना है या मैं युद्ध करूँगा यह जानना जरूरी है ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥
संजय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

बालक्रीड़ा

दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने की इच्छा से प्रगल्भता से विना विचार किये तैयारी करके यहाँ युद्धस्थल में ये आये हैं जो युद्ध करेंगे इनको मैं देखूँगा ॥२३॥

सञ्जय उवाच संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे भारत ! [यहाँ भरत के सम्बन्ध को सूचन करना प्रभु संवाद में चित्त के एकाग्रभाव को सम्पादन करने के लिए है] गुडाकेश के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश ने भीष्म एवं द्रोण जिनमें प्रमुख हैं प्रधान है ऐसे सभी राजाओं की सेनाओं के बीच में रथ को स्थापित करके कहा कि हे पार्थ ! हे पृथा के पुत्र ! युयुत्सा से समवेत हुए इन कुरुओं को देखो । युद्ध में कुरुओं की सहायता करने के लिए आने वाले सभी लोगों को कुरु शब्द से कहा है । यह ताद्धर्म्यात् लक्षणा है ।

यहाँ गुडाकेश में दो शब्द है एक गुडाका जिसका अर्थ है निद्रा और दूसरा ईश जिसका अर्थ है वश में करने वाला । यह निद्रा दो तरह की होती है । एक वह है जैसे बाहरी सूर्यमण्डल अपनी सात रश्मियों से सात प्रकार के प्राणों को पुष्ट करता हुआ और अपनी चाल से घूमता हुआ भूमण्डल, अन्तरिक्ष और दिववर्त्ती प्राणियों के व्यवहार को सिद्ध करके किसी भूत छाया में लीन होकर रात्रि करता है वैसे ही अन्तःकरणरूपी सूर्य भी अपने सात किरणों से सात स्रोतों को प्रकाशित करता हुआ शरीर के भीतर और बाहर दृश्य अदृश्य एवं दृश्यादृश्य तीनों स्थानों के व्यवहार को सिद्ध करकें अपने किसी भूत की छाया में लीन हो जाता है । यह पहली निद्रा है ।

दूसरी अनादि अज्ञान रूपी निद्रा है इन दोनों निद्राओं को वश में करने वाला योगी गुडाकेश पद का भागी होता है ।

हृषीकेश पद का अर्थ है जो अन्तःकरण रूपी सूर्य का अन्तर्यामी होकर इन्द्रियों को चेतना शक्ति देता है वह श्रीकृष्णचन्द्र है । यहाँ

बालक्रीड़ा

अध्यात्मभाव यह हुआ कि जो योगी इन दोनों निद्राओं को जीतकर इन्द्रियेश परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है उसके प्रवृत्ति प्रवाह रूपी रथ को परमात्मा दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर देता है जिससे दो प्रकार की प्रवृत्ति प्रवाह के हेतु जो सैन्यगण हैं इनका यथार्थ ज्ञान उसे हो जावे। वे दो प्रवृत्तियाँ (एक) स्वाभाविक एवं (द्वितीय) शास्त्रीय हैं। इन्हीं का नाम प्रवृत्ति और निवृत्ति है। जैसा कि कहा है—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृतौ च वि भाषितः॥

वेद में दो मार्ग में हैं जिनमें वेद का प्रस्थान है प्रतिष्ठान है। पहला प्रवृत्ति लक्षण धर्म जो संसारमर्यादा को धारण करता है, दूसरा निवृत्ति मार्ग जिसमें धर्म का व्यवहार भावना के अनुसार है। कोई वेदज्ञ निवृत्ति को भी धर्म मानते हैं। निरीश्वर वेद वादी निर्वीज शून्य समाधि को ही निवृत्ति का स्वरूप मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने उपनिषदों के सार को लेकर श्री गीता जी में सांख्य एवं योग के नाम से निवृत्ति मार्ग के इन्हीं दो पक्षों का उपदेश दिया है।

यहाँ प्रवृत्ति के साधन सैन्य के मुख्य नायक शन्तनु के पुत्र देहाभिमति रूप भीष्म दोनों सैन्यगण के प्रपितामह हैं। लोकोन्नति हेतु शास्त्राभिमानरूप द्रोणाचार्य दोनों सैन्यगण के गुरु हैं। विषयोपभोगनैपुण्याभिमान कृपाचार्य हैं। निवृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों के तत्त्व के अवबोधक दो प्रकार के शास्त्ररूपो नेत्रों से हीन अत एव अविवेकरूप धृतराष्ट्र है। जिसके दुर्वार विरोधादि सैकड़ों दुर्गुण रूप शतपुत्र हैं। जिनके मुख्य सहायक ये तीन हैं। उनमें पहला अन्तःकरणरूपी सूर्य के संयोगमात्र से विना गुरु के स्वाभाविक इन्द्रिय प्रवृत्तिरूप कुमारी कुन्ती से उत्पन्न होनेवाली निरङ्कुश कल्पना कर्ण है। दूसरा दुष्टशिक्षा रूप दुःशासन है। तीसरा शंकास्पद व्यवहार करने वाले दुष्टों का संघ शकुनि है।

पूर्वदेवाः सुरद्विषः के अनुसार असुर लोग देवों के बड़े भाई हैं अतः असुरों के छोटे भाई देवगण हैं उसी तरह अविवेक का छोटा भाई विवेक है। प्रकृत में अविवेकरूप धृतराष्ट्र का छोटा भाई विवेकरूप पाण्डु है। जिसकी धर्मपत्नी गुरुशास्त्ररूप देवारावन से सम्पन्न उभय लोकोन्नति

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

मधुसूदनी

भीष्मद्रोण प्रमुखत इति । अत्र सार्वविभक्तिकस्तसिर्भवतीति नियमात् षष्ठयर्थे तसिः । तेन भीष्मद्रोणौ प्रमुखौ येषां महीक्षितां तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखानामित्यर्थे भीष्मद्रोणप्रमुखत इति पदं साधु । तेन तत्प्रमुखानां सर्वेषां महीक्षितां राज्ञामुभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वा हृषीकेश उवाचेत्यन्वय ॥२५॥

बालक्रीड़ा

हेतु इन्द्रियाकूतरूप कुन्ती में धर्म युधिष्ठिर, बल भीम एवं सच्छिक्षा अर्जुन ये तीन सुपुत्र उत्पन्न हुए हैं । पूर्व सुकृत से उत्पन्न नैसर्गिक इन्द्रिय सद्वृत्ति रूप माद्री में एकता समता रूप नकुल और शीलरूप सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं । ये ही पाँच चिरस्थायी द्रु पेड के पद स्थान भूमिमण्डल सम्बन्धी श्री द्रौपदी के पति हैं । इन पाँचों के सहायक मुख्यत ! कुन्ती के पुत्रों के उनमें भी विशेषतः अर्जुन के सहायक हृषीकेश श्रीकृष्ण हैं । इन्हीं अविवेक और विवेक के सैन्य गणों के युद्धोद्योग में स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण दुर्गुण रूप सैन्यगण को विवेक के द्वारा परास्त कर निवृत्ति के साधन जो सद्गुणरूप सैन्यगण है उसके नायक धर्मरूप युधिष्ठिर के विजय का स्थापन किया । गीता के तीन षट्कों में से पहले में शास्त्रीय स्वधर्म सेवन से स्वाभाविक कर्मों का त्यागरूप कर्मयोग, दूसरे में सबीज समाधि और निर्बीज समाधिरूप उपासना, तीसरे में जीवन्मुक्ति की दृढ़ता इन तीनों को क्रम से सम्पादन कर ब्रह्मसद्भाव रूप स्वराज्य का सम्पादन करना श्री गीता जी का उद्देश्य है । यही भाव इन दो श्लोकों में बतलाया है ॥२४।२५॥

जीव संसृति के उपयोगी सभी वृत्तियों को पित्रादिवत् पोषक होने से जीव अवस्था के पितृ पितामहादि नामों से कहा है । अब दृश्य रूपक का अर्थ ही दिखाया जायगा । जिसका प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में साधारण उपयोग है ।

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

मधुसूदनी

तान् समीक्ष्येति । बध्नन्ति स्नेहपाशैः परस्परं हृदयं नियमयन्ति ते बन्धवस्तान् सर्वान् न तु एकं द्वौ त्रीन् अपि तु अखिलान् । परया कृपया आविष्टः । कौन्तेयः कुन्त्याः पुत्रः । यां कुन्ती राक्षसभोज्यतया परिपाटीप्राप्तब्राह्मणपुत्ररक्षायै दयार्द्रहृदयतया स्वपुत्रं तत्स्थाने प्रेषयामास तस्याः पुत्रः । अतोऽवश्यं कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते इति न्यायाद् दयार्द्रेण अर्जुनेन भवितव्यम् । इति भावः ॥२७॥

बालक्रीड़ा

वहाँ रण क्षेत्र में दोनों सेनाओं के बीच में खड़े हुए पिता पाण्डु के मर जाने से उनके बराबर के व्यक्ति तथा पितामह आचार्य मातुल भ्राता पुत्र पौत्र श्वशुर सुहृद एवं सखा को अर्जुन ने देखा ॥२६॥

इस प्रकार उन सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर जो युयुत्सा से युद्ध में अवस्थित हुए हैं। वह कौन्तेय कुन्ती का पुत्र उत्कृष्ट दया से आविष्ट हुआ अतः विषाद को प्राप्त होकर यह कहने लगा। यहां कौन्तेय कहने का अभिप्राय है कि यह वह कुन्ती है जिसने पारी के क्रम से राक्षस के भोज्य के रूप में जाने वाले अत एव मरणोन्मुख अपने पुत्र के वियोग से विह्वल होकर क्रन्दन कर रही ब्राह्मणी के ऊपर दयार्द्र हृदय होकर अपने पुत्र से कहा कि "यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः" जिस प्रयोजन के लिए क्षत्राणियां बच्चों को पैदा करती हैं वह काल आ गया है अतः हे भीम ! तुम इस ब्राह्मणी के पुत्र के बदले में राक्षस के भोज्य के रूप में जावो। अतः कारण के गुण कार्य में संक्रान्त होते हैं इसलिए अर्जुन का कुन्ती पुत्र होने के नाते दयार्द्र होना स्वाभाविक है। यह यहाँ व्यञ्जनया ध्वनित होता है ॥२७॥

अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छा से उपस्थित हुए इस स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जा रहा है ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशवः ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

मधुसूदनी

बाह्यतापेन त्वचो दहनं भवति, न तु शोकादिना अन्तस्तापेन ततः कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । कारणं विना स्वयं दह्यते ।

भ्रमतीव चेति अत्र मनःस्थाने शिर इति पाठेन भवितव्यम् । यतो हि भयात् विषादाद् दुःखात् कस्मादपि कारणाद्यदा रक्तचापाधिक्यं जायते तदा शिरो भ्रमति तेन जनः अवस्थातुं न शक्नोति । प्रकृते च विषादः । ततः शिर एव भ्रमति न मनः । अथवा चेदिवेनोत्प्रेक्ष्यते मनसो भ्रमिरयथार्थज्ञानमिति यावत् । तेन कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधज्ञाघनता मनसि नास्ति इत्येव भवितुमर्हति । अवस्थातुं न शक्नोति इति कथम् तेन शिर इत्येव पाठः । अनवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्कर, इत्यपि बोध्यम् । निमित्तानि शकुनानि । के जले शेते इति केशवः । तेन क्षीरः समुद्रशायित्वादानन्दनिमग्नो मम दशां न पश्यसि । इति भावः ॥३०॥

बालक्रीड़ा

और मेरे शरीर में कम्पा और रोमाञ्च हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष छूटा जा रहा है तथा त्वचा (चमड़ा) जल रही है ॥२९॥

हे केशव ! मैं यहाँ खड़ा होने में समर्थ नहीं हूँ। मेरा मन भ्रमयुक्त हो रहा है। यहाँ भ्रमतीव च मे मनः के स्थान में भ्रमतीव च मे शिरः पाठ ठीक मालूम देता है क्योंकि शिर में चक्कर आता है अतः शिर घूम रहा है यही व्यवहार लोक में होता है। निमित्त शकुन सब विपरीत दीख पड़ते हैं ॥३०॥

हे कृष्ण ! संग्राम में स्वजनों को मार कर कल्याण हो जायगा ऐसा मैं नहीं समझता हूँ। मैं विजय की इच्छा नहीं करता हूं। राज्य और सुखों की भी इच्छा नहीं करता हूँ ॥३१॥

हे गोविन्द ! हमको राज्य नाना भोग्य पदार्थ और जीने से क्या

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन !
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

मधुसूदनी-

गोविन्दमिति। गोभिः श्रुतिभिर्वेदान्तवाक्यैः विद्यते परमार्थरूपेण लभ्यते यः स गोविन्दस्तम्। अत आध्यात्मिकदिशा बोधनीयोऽहं न तु भौतिकवादेनेत्याशयः ॥३२॥

प्राणानिति। प्राणान् प्राणवत्प्रियाः स्त्रीपुत्रादयोऽप्युपचारात् प्राणा एव। तान् गृहे त्यक्त्वा युद्धभूमाववस्थिताः ॥३३॥

मधुसूदनेति। यदा "विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ" तदा तयोर्मध्ये मधुं सूदयित्वा निजबन्धोः ब्रह्मणो रक्षणं कृतवान्। तादृश ! हे मधुसूदन ! स्वबन्धुरक्षक ! एवं स्वबन्धुरक्षको भूत्वा परबन्धून् विनाशयितुं प्रेरणा क्रिया नोचिता। अतः स्वानेतान् बन्धून् न हनिष्यामि ॥३५॥

बालक्रीड़ा

मिलेगा अर्थात् कौन सा सुख हमें प्राप्त होगा। जिनके लिए हम राज्य भोग एवं सुख चाहते हैं ॥३२॥

वे ये आचार्य पितर पुत्र पितामह मातुल श्वशुर पौत्र साले और सम्बन्धी हैं जो प्राण अर्थात् प्राण सदृश अत्यन्त प्रिय पुत्रादि और धन दौलत को अपने पीछे छोड़कर युद्ध में आ डटे हैं ॥३३।३४॥

हे मधुसूदन ! ये सब यदि मुझको मारें तब भी मैं इनको मारना नहीं चाहता हूँ। यहाँ मधुसूदन सम्बोधन का यह भाव है कि आप मूल अज्ञान के नाशक हैं अतः ऐसे अज्ञान के संकट में आप मेरे सहायक होइये ॥३५॥

बालक्रीड़ा

हे जनार्दन ! जन ज्ञान की प्राप्ति के लिए आपसे अर्दन याचना करते हैं अर्द गतौ याचने च धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर अर्दन बनता है) अतः हे ज्ञान देने वाले ! भूमी के राज्य के वास्ते तो क्या ? त्रैलोक्य के राज्य के वास्ते भी धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें कौन प्रीति मिलेगी। षड्विध प्रीतियों में से कौन सी प्रीति मिलेगी अर्थात् कोई भी प्रीति नहीं मिलेगी प्रत्युत दोष के ही भागी हम होंगे। क्योंकि इन आततायियों को भी मारने से हमें पाप ही लगेगा।

यहाँ यह सिद्धान्त है कि अग्निद अग्न से (द्यति) नष्ट करनेवाला, गरद विष से (द्यति) नष्ट करने वाला, शस्त्रपाणिः सन् धनापहः याने शस्त्रपाणि होकर अर्थात् छुरा या पिस्तौल वगैरह को दिखाकर छाती पर तानकर धन को एव धन के आप लम्भन कराने वाले (चुरादिगण की आप्लृ लम्भने धातु से धनमापयन्ति लम्भयन्ति अर्थ में आपानि धनसाधनानि बनता है) स्रोत साधन कम्पनी, कारखाने, मिल, फैक्टरियों आदि को हनन करने वाला, क्षेत्र एवं दारा का अपहरण करनेवाला ये छः आततायी होते हैं। यहाँ ऊपर दिखाई गई प्रक्रिया के अनुसार धनापह के दो अर्थ होते हैं तभी आततायी छः होते हैं अन्यथा पाँच होंगे। क्योंकि शस्त्रपाणि की आततायिओं में गणना नहीं कर सकते हैं। उसका कारण है कि राजे महाराजे धनिक एवं व्यवसायिओं के दरवाजों पर हाथ में शस्त्र एव अस्त्र को लेकर द्वारपाल खड़े रहते हैं जो चोर डाकू आदि को मार भगाने के लिए ही वहाँ पर रखे जाते हैं। उनको भला कौन बुद्धिमान् आततायी कहेगा। आततायी का अर्थ है कि जो व्यक्ति अतत है माने तत उपकरण रहित है और सावधान नहीं है उस व्यक्ति पर (अयितु शीलमस्य) अयन माने आक्रमण करने का स्वभाव है। अग्निदः गरदः का अर्थ अग्नि देनेवाला विष देनें वाला नहीं है। मृत व्यक्ति को चिता पर अग्नि देने वाला अग्निद एवं विष को बेचनेवाला भी विष देनेवाला कहलायेगा। यहाँ कर्त्ता में पचाद्यच् हो गया है और तनु श्रद्धोपकरणयोः इससे क्त प्रत्यय होने से तत बना है। अतः न ततः अततः उपकरण एवं श्रद्धा रहित ये अर्थ हैं। ऐसे आततायिओं को मारने में पाप नहीं है किन्तु यह अर्थशास्त्र है और मा हिं स्यात् सर्वा भूतानि यह श्रुति है अतः धर्मशास्त्र है। जो सबसे बलवान् है। जैसा कि कहा है—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन !
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

मधुसूदनी

जनार्दनेति । जनैर्लोकैरभ्युदयादिकमर्द्यते प्रार्थ्यते यस्मात्स जनार्दनः मयाऽपि भवतो बुद्धिरर्द्यते [अर्द गतौ याचने च] यदेतेषां हननेन का प्रीतिः स्यादिति मां बोधयेति भावः ।

आततायिन इति । आततायो महान् दोषः । तत्र राज्ञां महाराजानां धनिनाञ्च प्रकोष्ठेषु द्वाःसु च नक्तं जागरां विधाय दिवा अवहितीभूय शस्त्रपाणयो दौवरिकास्तिष्ठन्ति । तेषां तत् शस्त्रपाणित्वं नाततायः । कस्तान् शस्त्रपाणीन् दौवरिकान् कथयति यदिमे आततायिन इति । इमेऽपि चौरान् वित्रासयितुं, लुण्टाकान् हिंसितुमेव शस्त्रपाणयो न केवलं शोभार्थमतः शस्त्रपाणिर्नाततायी । एवं षडेते ह्याततायिन इति कथनं न सङ्गच्छते । तस्मात् शस्त्रपाणिः सन् धनापह इत्यन्वयः स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति न्यायात् । धनं यः हन्ति अथ च धनमापयन्ति लम्भयन्ति धनापानि यानि स्रोतांसि साधनानि मिलफैक्टरीकम्पनीप्रभृतीनि तानि हन्ति सः । अत्र आप्लृ लम्भने इति धातोः कर्त्तरि पचाद्यच् । एवमेव अग्निना द्यति खण्डयति अग्निदः । गरेण द्यति गरदः । अग्निं ददाति गरं ददाति इत्यर्थोऽत्र नास्ति । एवमर्थकरणे मृतान् स्वबन्धून् चितास्वारोप्य अग्निदाताऽपि, गरस्य विक्रेताऽपि मूल्यं गृहीत्वा विषं ददाति तावपि आततायिनौ स्याम् । तस्मादस्मदुक्तोऽर्थः साधीयान् ।

आततायिपदार्थोऽपि एवं बोध्यः । तनु श्रद्धोपकरणयोरिति धातोर्भावे क्त प्रत्यये ततमुपकरणं श्रद्धा च तदस्यास्तीति ततः उपकरणेन श्रद्धया च सहितः । अततः उपकरणरहितः श्रद्धारहितः अर्थात् असावधानः ते

बालक्रीड़ा

स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्राच्च बलवत् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ॥

स्मृतियों के विरोध में व्यवहार के अनुसार न्याय बलवान् होता है और अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् होता है यह स्थिति है मर्यादा है ! फलतः धर्मशास्त्र के आधार पर इन लोगों के मारने पर हमें पाप लगेगा ही ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथ हत्वा सुखिन. स्याम माधव ! ॥३७॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृत दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥३९॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

मधुसूदनी

प्रति अयितुमाक्रान्तुं शीलमस्य स आततायी । अत एव हि आततायित्वं दूषणम् ॥३६॥

कुलधर्माः सनातनाः । इति । सदा भवाः सनातना नित्याः । ननु नित्या अपि प्रणश्यन्ति अपि इति कथं स्यात् । अतः सनातना अर्थात् कुलपरम्परया प्राप्ताः इत्यर्थः । कुलीनपुरुषस्य धर्मिणः क्षये धर्माः आश्रयाभावात् स्वतो नश्यन्तीति भावः । ननु पूर्वमुक्तं कुलक्षये आधाराभावात् कुलधर्माः नष्टाः । इदानीं कथ्यते धर्मे नष्टे कुलमधर्मोऽभिभवति । कुलं क्वास्ते कुलं तु क्षीणम् । अधर्मस्तत् कथमभिभवितुमर्हति इति चेत् । शृणु । अत्र कुलक्षये इत्यस्य कुलगतमूलपुरुषस्य क्षये सति धर्मनाशः । धर्मनाशे सति मूलपुरुषाभावेऽपि अवशिष्टपुरुषानभिभवितुमर्हति एवेति भावः । अत एव उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणामित्यत्र मनुष्याणामिति वक्ष्यते ॥४०॥

बालक्रीड़ा

यद्यपि ये आततायी शस्त्र लेकर मार दें तो भी इनके मारने से हमको पाप लगेगा । इसलिए हमारे भाई धार्तराष्ट्र हैं धृतराष्ट्र के पुत्र हैं इनको मारना हमको उचित नहीं है ।

हे माधव ! हे लक्ष्मीपते ! यहाँ इस सम्बोधन से आपके कुटुम्ब एवं विरादरी (ज्ञाति) में विशेष धन का उपयोग होता है जहाँ बाप दादों की कीर्ति फैलती है । अपरिचितो में धन का उपयोग व्यर्थ है । यह सूचित किया है । स्वजन को मारकर हम सुखी कैसे होंगे ॥३७॥
यद्यपि लोभ से नष्टज्ञान होने के कारण ये लोग कुल के क्षय करने के दोष को और मित्रों के साथ द्रोह करने में जो पातक होता है उसको नहीं समझते हैं ॥३८॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन!।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

बालक्रीड़ा

परन्तु कुल के नाश कर देने से होने वाले दोष के जानकार हम इस पाप से निवृत्त होने को कैसे नहीं जाने ॥३९॥

कुल के नष्ट होने से कुल के सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट हो जाने से सम्पूरण कुल को अधर्म दवा लेता है ॥४०॥

अधर्म के दवा लेने से हे कृष्ण! कुल की स्त्रियाँ दुष्ट हो जाती हैं। स्त्रियों के दुष्ट हो जाने से हे वार्ष्णेय! वर्ण संकर पैदा होने लगते हैं ॥४१॥

वर्णसंकर सन्तान कुलघाती पुरुषों के कुल का नरक में वास कराती है। इनके पितृगण पिण्ड दान एवं उदक क्रिया के लुप्त हो जाने से नरकों में पड़ते हैं ॥४२॥

कुल घातियों के इन वर्ण सांकर्य जनक कर्म करने वाले दोषों से कुल एवं जाति के शाश्वत धर्म उच्छिन्न हो जाते हैं ॥४३॥

हे जनार्दन! जिनके कुल एवं जाति के धर्म उच्छिन्न हो जाते हैं उन मनुष्यों का नियम से नरक में वास होता है ऐसी अनुश्रुति है या ऐसा सुना है ॥४४॥

अहो खेद है कि हम बड़े भारी पाप को करने के लिए व्यवसाय कर रहे हैं। जो राज्य सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत हो गये हैं ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।
संजय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

मधुसूदनी

एवमिति । अत्र रथोपस्थे इत्यस्य रथस्य समीपे सन्निधाने इत्यर्थः । यथा श्रुतिराह जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति । समदामुपस्थे । अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वां वर्मणो महिमा पिपर्त्तु । इति मंत्रः वर्मी कवची । समदां शत्रूणाम् । उपस्थे सन्निधाने । प्रतीकमङ्गम् । महिमा शस्त्रक्षतप्रतिबन्धकत्वम् । इति तट्टीका सायणभाष्यम् ।

बालक्रीड़ा

इसलिए यदि ये शस्त्रपाणि धृतराष्ट्र के पुत्र शस्त्ररहित एवं प्रतीकार शून्य मुझको रण में मार देवें तो मेरा बड़ा ही कल्याण हो जावे ।।४६।।

संजय बोले कि हे धृतराष्ट्र ! संग्राम की परिस्थिति उत्पन्न होने पर शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन भगवान् से इस प्रकार सब वृत्तान्त कह कर और शर समेत धनुष को पटक कर रथ के नीड़ में रथ के नजदीक में बैठ गया ।।४७।।

यहाँ उपस्थे का अर्थ सन्निधाने है जैसा कि मंत्र में हैं जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे । अनाविद्धया तन्वा जय त्वं, स त्वां वर्मणो महिमा पिपर्त्तु । समदां शत्रुणामुपस्थे सन्निधाने इति । इस प्रकार भगवान् के द्वारा गाई गई उपनिषदों में कही हुई मधुविद्या दहर विद्या अग्निविद्या शाण्डिल्यविद्या आदि विद्याओं में से ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र में श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के प्रसङ्ग में अर्जुन विषाद योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

यद्यपि एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ! ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि कर्मयोग एवं सांख्ययोग भिन्न-भिन्न हैं । और 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति" 'ज्ञाने परिसमाप्यते" "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इत्यादि वचनों से भी सिद्ध है कि ज्ञान मुख्य है । तथापि "तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति!"

ओं तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

मधुसूदनी

रथोपस्थे इत्यत्र उपस्थे इति स्त्रीपुंसयोर्गुह्याङ्गस्मारकत्वादश्लीलत्वं दोषः।

ननु अत्राद्ये "शोकसंविग्नमानसः" इति शोकं "पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता" इति मोहमुपक्रमते। मध्ये "न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणा" मिति शोकः, एकादशाध्यायान्ते च "मोहोऽयं विगतो मम" इति मोह उच्यते। पुनर्ग्रन्थान्ते "नष्टो मोहः" इत्युपसंह्रियते। एवं भिन्नौ भिन्नौ उपक्रमोपसंहारौ। अन्यच्च मोहो विगतश्चेत्तर्हि को मोहोऽत्रशिष्ट. यो नष्ट इत्यसम्बद्धमेवोक्तमिति चेच्छृणु। अर्जुनस्य वैकल्यं पूर्वं प्रदर्शितम्। विषादाच्छोकस्तेन किंकर्त्तव्यविमूढता च। पश्चात्तस्य स्वास्थ्यं यदा जातं तदा मोहो नष्टः स्मृतिर्लब्धा इत्येवं सकलकलत्वमुक्तम्। ततः किमपि नासम्बद्धं सर्वं समीचीनमेवेति ॥४७॥

इति श्रीमधुसूदनशास्त्रिविरचितायां गीतामधुसूदन्यां प्रथमोऽध्यायः।

प्रासूत रामो विदुषां वरेण्यो वक्तावरी श्रीमधुसूदनं यम्।
गीतासु विज्ञस्य ततो व्यरंसीदध्यायं आद्ये मधुसूदनीयम् ॥

बालक्रीड़ा

योग से कर्मयोग से सिद्ध हुआ सम्पन्न हुआ व्यक्ति उस ज्ञान को अपने आप अवसर पर प्राप्त कर लेता है अतः कर्मयोग मूल है उपाय है और सांख्ययोग उपेय है। किन्तु दोनों में अभेद को मन में रखकर भगवान् ने हे 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः' "एकं सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति" "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते प्राप्यते"। (यहाँ सांख्यैः प्राप्यते एवं योगैः प्राप्यते कहने पर ही एकप्रसरता रहती है गम्यते कहने पर वह भग्न हो जाती है यह प्रासङ्गिक है) अतः प्रकृत में सांख्यशास्त्रे न लिखकर योगशास्त्रे लिखा है।

वस्तुतस्तु गीता के १८ अध्यायों में प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो विषादयोगो नाम सांख्ययोगो नाम इत्यादि लिखा है उसी को ध्यान में रखकर यहाँ योगशास्त्रे लिखा है। इस उल्लिखित योग का अर्थ "योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु" इस कोष के अनुसार अध्याय सङ्गति है। इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय की बालक्रीड़ा हिन्दी टीका समाप्त हुई।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

मधुसूदनी

मधुसूदनः प्रवक्ता व्याख्याता मधुसूदनः ।
यत्रास्ति गीतां तां नत्वा टीकेऽहं मधुसूदनः ।
व्याख्यातृभिर्यदस्पृष्टं ग्रन्थियुक्तास्फुटञ्च यत् ।
तट् टीके नो रवेर्यत्र गतिस्तत्र कवेर्यथा ।
श्रीमद्विद्वत्तल्लजरामजिलालान् पितृनहं नौमि ।
येषां लालनपालन शिक्षाद्यैरेधितो वर्त्ते ।
स्निग्धपरिष्कृतवचसा झटिति दुरूहार्थबोधने दक्षान् ।
रक्षामणीन्निजान्तेवसतां तांस्तौमि वालकृष्णगुरून् ।

ननु कृपा सर्वसुखैषिता । अत एव सर्वोऽपि जनः हे भगवन् ! अथवा हे राजन् ! अथवा हे गुरो ! मयि कृपां कुरु इत्येवं प्रार्थयते इत्येवं वाञ्छति । परमत्र भगवान् मधुसूदनः प्रार्थनीयां वाञ्छनीयां कृपां कश्मलं कथयति । कश्मलमपि साधारणं न अपि तु अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम् । तत्कथमिति चेच्छृणु । भूतावेशे सति प्राणिनः स्वां दशां परित्यज्य भूतदशया यथा व्यवहरन्ति तथैवार्जुनोऽपि विषमे विषेणोपमिते समये प्रदेशे च व्यावहरत् । सा तस्य स्वा दशा नास्ति अपि तु परा अन्या अत एव क्रमशः विवर्णः, शोकाकुलः, विमूढः सन् संशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे समुपाविशदिति भगवान् तां कृपां परां कश्मलञ्चाचकथत् । अत एव तदावेशदूरीकरणार्थं प्रायतिष्ट ।

बालक्रीड़ा

अब द्वितीय अध्याय का आरम्भ करते हैं । संजय बोले ! इस प्रकार प्रथम अध्याय के प्रसङ्ग के अनुसार अर्जुन को दया का आवेश हो गया जिससे उसकी आँखें आंसुओं से पूर्ण एवं आकुल हो गई और वह विषाद करने लगा कि जिनकी गोद में पले जिनके चरणों में बैठ कर विद्या

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ! ॥३॥

मधुसूदनी

परतोऽर्जुनोऽपि एतां कृपां दोषं मनुते स्म । अत एव कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इत्येवं स्वयमुक्तवान् । कृपायुक्त एव कृपणः कृपा धर्मः । कृपणो धर्मी । कृपयति इति कृपणः नन्द्यादित्वात्कर्त्तरि ल्युः । इति सर्वं समञ्जसम् ॥१॥ विषमेऽनवसरे ॥२॥

बालक्रीड़ा

सीखी और जिनके संग साथ में रङ्ग गेलियाँ की उनको मारना पड़ेगा इसकी अपेक्षा तो भिक्षावृत्ति से ही जीवन यापन कर लेना अच्छा होगा इत्यादि। इस पर भगवान् मधुसूदन ने अर्जुन को यह कहा । यहाँ इस अवसर पर मधु दैत्य को मारनेवाले महावीर का उपदेश ही विषाद का शमन कर सकता है इस बुद्धि से मधुसूदन पद का उपन्यास किया है ॥१॥

भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! विष के साथ जिसका माप कर सकते हैं ऐसे भीषण समय एवं प्रदेश में बे मौके कहाँ से तुमको यह अनार्य-जनसेवित, स्वर्ग को रोकने वाला एवं अकीर्तिकर निन्दा का जनक कश्मल गन्दापन उपस्थित हो गया ॥२॥

हे पार्थ ! जिसने महाघोर आपत्ति के पड़ने पर भी देवताओं का आराधन करके पाण्डु के वंश का उद्धार किया उस पृथा के परम पुत्र तुम हो इस तथ्य को अर्जुन के हृदय में जगाने के लिए भगवान् ने पृथा पुत्र के रूप में अर्जुन को सम्बोधन किया । क्लीबता को नामर्दी को मत आने दो अर्थात् हिम्मत मत हारो । तुम्हारे में यह क्लीबभाव उचित नहीं है क्योंकि तुम पृथा के पुत्र हो । अतः हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए उठो ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन !।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ! ॥४॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

मधुसूदना

अर्थकामानिति। धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः इत्युक्तेरेकसक्ता एव जघन्याः स्युरिमे तु द्विसक्ता अतो न तथा अपि तु गुरवः इत्येवमर्थकामानिति गुरुनित्यस्य विशेषणम्। अथवा अर्थाश्रितान् कामपूरकान् भोगान् सुखानुभूतीः ॥५॥

बालक्रीड़ा

इस पर अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूदन ! यह संख्य है कथनी की जगह है। लोग कहेंगे कि अर्जुन बड़ा क्षुद्र निकला। जिसने अपने पूज्य वर्ग के साथ विरोध किया और उनकी छाती को बाणों से विद्ध किया। अतः संग्राम में पितामह भीष्म एवं गुरु द्रोणाचार्य के साथ बाणों से प्रतियुद्ध मैं कैसे करूँ। क्योंकि हे अरिसूदन ! ये दोनों ही पूजा के योग्य हैं। इनके साथ प्रतियुद्ध करने से उन्नति रुक सकती है ये लोग योगियों के भी सेव्य हैं ॥४॥

महानुभाव गुरु लोगों को "गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे" इस कोष के अनुसार श्रेष्ठ जनों को मारना नहीं पड़े अर्थात् इनके बिना मारे यदि इस लोक में यानी जिस जनता में हम राजभाव से रहते हैं उसी जनता में भिक्षा से प्राप्त अन्न खाना भी कल्याणकारी है। किन्तु गुरुओं को मारकर तो इस लोक में ही न कि परलोक में भी रुधिर में सने हुए अर्थकामरूपी भोग भोगने पड़ेंगे। परलोक में क्या होगा यह कहना तो अशक्य है। यह इहैव के एवकार से ज्ञात होता है। यहाँ हमने अर्थ-कामान् भोगान् ऐसा अन्वय करके यानी अर्थकामान् को भोगान् का विशेषण बना कर अर्थ किया है। वस्तुतस्तु अर्थकामान् यह गुरून् का ही विशेषण है। अर्थ शब्द का प्रकृत में अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजन निवृत्तिषु" इस कोष के अनुसार वस्तु है अतः वस्तु की तथ्य की कामना करने वाले गुरु हैं। वह वस्तु यह है कि इतने दिन तो हम इन कौरवों

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मधुसूदनी

धार्त्तराष्ट्रा इति । अत्र तस्येदम्" इत्यण् । तेन धृतराष्ट्रसम्बन्धमाश्रित्य ये स्थिता आचार्याः मातुलाः श्वशुराः सखायतेः सर्वेऽपि धार्तराष्ट्राः इति ॥ ६ ॥

बालक्रीड़ा

के साथ रहे और ऐश्वर्य भोगा अब जब मरने मारने का समय आया तो छोड़ कर चले गये मतलबी थे ऐसी कथनी जनता में नहीं हो जाय इसलिए छोड़कर नहीं जा रहे हैं क्योंकि महानुभाव हैं ॥५॥

इनको हम नहीं जानते हैं कि हम में से कौन बलवान् है हम इनको जीतेंगे अथवा ये हमको जीतेंगे । परन्तु जिनको मार कर हम जीवित रहना नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्र के पुत्र मरने मारने के लिए हमारे सामने खड़े हुए हैं यह कैसा विपरीत भाव है ॥६॥

इनके मर जाने से हम कैसे जीयेंगे और हमको कुलक्षय का दोष लगेगा इस दो प्रकार के कार्पण्य से मेरा वीरपन मेरा क्षत्रिय स्वभाव नष्ट हो गया है अतः धर्म के बारे में मेरा मन मूढ़ हो गया है मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है । लड़ना उचित है या नहीं लड़ना उचित है अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि जो श्रेय हो उसका निश्चय करके कहिए ।

प्रश्न—तुम मेरे कौन हो जो मैं तुम्हारे लिए निश्चय करूँ और बतलाऊँ । उत्तर । मैं आपका शिष्य हूँ अनुशासनीय हूँ । अतः मुझे शिक्षा दें । इस पर भगवान् कहते हैं कि ठीक है तुम अनुशासनीय हो किन्तु अनुगत शिष्य को ही शिक्षा दीं जाती है न कि अननुगत को, तब तुमको क्यों शिक्षा दूँ । इस पर फिर अर्जुन कहता है कि मैं आपकी प्रपत्ति में हूँ प्रपन्न हूँ शरणागत हूँ । यहाँ कारण परम्परा है । मैं पूछता हूँ इसलिए कहिए । तुम पूछने वाले कौन हो । मैं शिष्य हूँ अतः मुझे शिक्षा दीजिए । क्यों शिक्षा दूँ । मैं आपका प्रपन्न हूँ । अतः यहाँ त्वां प्रपन्नः ऐसा पाठ होना उचित है । अन्यथा मैं आपका प्रपन्न शिष्य हूँ इस रूप में प्रपत्ति गुणीभूत हो जायगी किन्तु होना चाहिए प्रपत्ति को प्रधान ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

मधुसूदनी

आदितः कृशवृत्तिर्यं कृपणो न स राघव !
महात्मा व्यसनं प्राप्तो दोनः कृपण उच्यते ।

इति दिशा कर्त्तव्यानिश्चयरूपं व्यसनं प्राप्तोऽर्जुनः कृपणस्तस्य धर्मः कार्पण्यं दैन्यं सैव दोषः । यन्मे मम निश्चितं नितरां चितं युक्तं श्रेयः कल्याणम् । तन्मे मह्यं निश्चितमवश्यं ब्रूहि । ननु कुतो ब्रूयां कस्त्वं ममेत्याह अहं ते शिष्योऽनुशासनोयः । तेन किमित्याह शाधि मां ममानुशासन कुरु । ननु अनुगत एव शिष्योऽनुशासनीयो न त्वननुगत इत्याह त्वां प्रपन्नः तव प्रपत्तिज्ञः त्वमेव शरणं रक्षिता ममेत्यर्थः । शरणं गृहरक्षित्रोरित्यमरः । अत्र त्वां प्रपन्न इत्येव पाठः । तथा पाठ एव कारण-परम्पराऽनुस्यूता भवति अन्यथा त्वां प्रपन्नं मामिति पाठे प्रपत्तिर्गुणः स्यात् कारणपरम्पराऽपि सङ्गता न स्यात् ॥७॥

बालक्रीड़ा

यहाँ का तात्पर्य यह है कि पूर्व वेद के द्वारा बोधित किये गये सब पदार्थ नित्य हैं क्योंकि वेद नित्य है और नित्य के द्वारा अनित्य पदार्थों के बोधन करने से नित्यानित्य संयोग दोष होता है। आकर्षण विकर्षण (परिवर्त्तन) एवं उद्भावन शक्तियों का प्रदान करने के लिए परमात्मा तीन प्रकार के ज्योतिः स्वरूप को प्रकट कर संसार के पदार्थों का निर्माण करते हैं। वे तीन ज्योतियाँ हैं सूर्य विद्युत् एवं वैश्वानर। उनमें अन्तर्यामी होकर पहले वाह्य पदार्थों में बीजरूप जल एवं आधारभूत पृथ्वी का निर्माण करता है और भोग्य पदार्थों की रचना करता है।

अध्यात्म पदार्थों में प्राण इन्द्रिय और शरीर भाव से भोक्ताओं की रचना करता है ये सब पदार्थ अनादि एवं अनन्त हैं यानी इनमें प्रवाह नित्यत्व हैं। यही पूर्व वेदार्थ है। इन भोग्य भोक्ताओं के साधनों की पोषणक्रिया को कर्मकाण्ड वेदार्थ कहते हैं। जिनके साधन गण को विरोधी सैन्य बनाया है। जिनके विना आत्मा का परिशोधन करना सर्वथा असम्भव है। जिस परिशोधन की सामग्री के साधन गण को अनुकूल सैन्य कहा है। यही कार्पण्य भाव का संकट हुआ है। यहाँ

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध राज्यं, सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप !
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

मधुसूदनी

अनुशासने हेतुं ब्रूते—नहि प्रपश्यामि इति । भूमौ नृलोके असपत्नं निः शत्रु ऋद्धं धनधान्याढयं राज्यम् । सुरलोके सुराणामपि च आधिपत्यमवाप्य तत् तत्त्वं न हि प्रपश्यामि यत् मम इन्द्रियाणामुच्छोषणम् । कर्त्तरि ल्युट् । उच्छोषणकर्त्तारं शोकमपनुद्यात् दूरीकुर्यात् ॥८॥

बालक्रीड़ा

दूसरे बीच के काण्ड को सिद्धि के लिए उपासना के रूप में दिखाया है । भावमय पदार्थों की भावना के परिपाक द्वारा शुद्ध परमात्मा के साक्षात्कार के लिए वाचिक एवं मानसिक व्यापार से परमात्मा का आलम्वन किये विना इस सङ्कट का निवारण नहीं होता है अर्थात् सच्चा समाधान नहीं होता है इसलिए अर्जुन कहता है कि मैं शिष्य हूं आप गुरु हैं अतः आप ही मुझे सच्ची शिक्षा दीजिए ॥७॥

क्योंकि मैं पृथ्वी पर निष्कण्टक राज्य को और देवताओं के आधिपत्य को भी प्राप्त करके उस उपाय को नहीं देख रहा हूँ जो मेरी इन्द्रियों के शोषण करने वाले शोक का निवारण करे ॥८॥

सञ्जय बोले हे परन्तप ! धृतराष्ट्र ! नीहार एवं जल्पी नाम से वेदों में कही गई दो प्रकार की निद्रा को जीतने वाला अर्जुन हृषीकेश इन्द्रियों के नेता श्री कृष्ण को हे गोविन्द ! हे इन्द्रियों को वश में करने वाले ! मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा कह कर चुप हो गया । यहाँ गोविन्द रूप सम्बोधन का यह भाव है कि आप (असङ्गो ह्ययं पुरुषः) असङ्ग होते हुए भी गोविन्द है निरतिशय ऐश्वर्यशाली है आपको विरोध स्पर्श नहीं करता है अतः आप ही मुझे इस विरोध संकट से बचायेंगे ॥९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत !
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

मधुसूदनी

प्रहसन्निवेति। प्रकृष्टहासम् अट्टहासं कुर्वन्निव न तु वस्तुतो हसन्। अर्जुनकृतसाटोपविषादस्य तुच्छत्वमुपपादयन्निवेत्यर्थः। इति इवपदाशयः। अतएव। अग्रे प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति वक्ष्यति। विषीदन्तमिति। न केवल विषीदन्तमपि तु शोकसविग्नमानसम्। अत एव समनन्तरम शोच्यानन्वशोचस्त्वमिति वक्ष्यति।

अत्र हे भारत ! उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोपस्थे समुपविश्य विषीदन्तं तमर्जुनं हृषीकेश प्रहसन्निव इदं वक्ष्यमाणं वच उवाचेत्यन्वयात् उभयार्थगतो मध्यार्थवाचकत्वं रथोपस्थे समुपविश्येत्यध्याहारकरणात् क्लिष्टत्वञ्च दोषौ ॥१०॥

अशोच्यान् शोकानर्हान् भीष्मद्रोणप्रभृतान्। ते हि महानुभावत्वात्, वेदविहिताचारपालकत्वात्, ब्राह्मणादिवर्णानां नाशादिभ्यः संरक्षण कर्त्तृत्वात् कृतकृत्या अत गतासवोऽपि मृता अपि अशोच्याः। दुर्योधनादयस्तादृशगुणशून्यत्वात्, प्रत्युताकारणद्वेषप्रयुक्तहिंसाद्यधर्माचरण दोषयुक्तत्वाद् गतासवः करणीया इति अगतासवोऽपि जीविता अपि

बालक्रीड़ा

हे भारत ! दोनों सेनाओं के बीच में अर्थात् सब शूरों के समक्ष में विषण्ण हुए अर्जुन को हंसते हुए हृषीकेश ने कहा॥१०॥

श्री भगवान् बोले ! हे अर्जुन तुम अशोच्यों का शोक करते हो विद्वानों के कहने के योग्य वाक्य को कहते हो। यह जो तुम कहते हो कि अहो हम लोग महापाप करने को उद्यत हुए हैं यह वाद पण्डितों का है। पण्डित लोग गतासु शरीर और अगतासु आत्मा इनके तत्त्व को जानने वाले होते हैं अतः इनके विषय में शोक नहीं करते हैं।

यहाँ का तात्त्विक अर्थ यह है कि संसार में दो पदार्थ प्रमेय हैं (१) एक जड़ धातु अज्ञानमय (२) दूसरा चेतन धातु ज्ञानमय। दोनों का

मधुसूदनी

उपेक्षणीयत्वादशोच्याः। एवमुभयेषामशोच्यत्वेऽपि प्रज्ञावादान् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं शक्तोऽपि मयि मत्समक्षं प्रज्ञंमन्यवत् न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणामित्यादि वाक्यानि भाषसे। अन्यच्च सर्वेऽपि पदार्थाः पाञ्चभौतिकाः। ततश्च काष्ठादीनामपि पाञ्चभौकतया हस्तेन धर्त्तुमशक्यस्य तेजसस्तेपु सद्भावेऽपि अभिव्यञ्जकाभावात् हस्तेन धरन्ति। एवमभिव्यञ्जकेनैवाभिव्यञ्जनीयस्य प्रतीतिर्नान्यथा। तस्मात् जीवात्मनो नित्यतया अविनाशितया च गतासौ देहेऽपि तस्य सन्निहितत्वाद् अभिव्यञ्जकस्यासोः प्राणस्य अभावाज् जीवितप्रत्ययो न हि भवति। अतः गता अभिव्यञ्जका असवो येभ्यस्तान् देहान् पण्डिता नानुशोचन्ति। जीवस्यास्तित्वात्। मरणस्य स्वाभाविकत्वाच्च। अगतासूनपि ते नानुशोचन्ति तत्र शोककारणाभावात्। इमे मृता इमे जीवन्ति इत्येवं जीवनमरणविषये मूर्खाः शोचन्ति चेच्छोचन्तु न कापि क्षतिः पण्डितेन त्वया शोको न करणीयः ॥११॥

बालक्रीड़ा

सूक्ष्म रूप छाया और आतप है। इनमें जड़ का अवसान रूप हिरण्य और चेतन का अवसान रूप प्राण है। हिरण्य का अन्त होने से जड़ धातु की असत्य अवस्था हो जाती है और प्राण का अन्त होने से चेतन धातु की सत्य अवस्था होती है। हिरण्य का अन्त जड़ का पहला रूप काल जो जड़ पदार्थों में परिणाम करता है जिससे उनमें वृद्धि और ह्रास होता है। प्राण का अन्त चेतन धातु का पहला स्वरूप अक्षर ज्ञान जो जड़ एवं चेतन सब शक्तियों की भावना करता है यानी सब शक्तियाँ उससे होती हैं। इन हिरण्य और प्राण दोनों के मिलने से हिरण्य गर्भ नामक परमात्मा के सगुण रूप त्रिमात्र प्रणव का अवतार होता है जिसकी मात्राएँ विष्णु शिव एवं ब्रह्मा नाम से कही जाती है। इन दोनों के मिलने से मात्राओं में परस्पर में ओत प्रोत व्यवहार होता है। जिनका स्थूल आकार भूः भुवः स्वः, अग्नि वायु एवं सूर्य तथा उद्भव परिवर्त्तन एवं आकृष्टि इन तीन विभाग वाले और अधिभूत अधिदैव एवं अध्यात्म भेदवाले वैदिक प्रस्थानों के लक्ष्य होते हैं। ये ही दो मूल पदार्थ

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

बालक्रीड़ा

आग्नेय एवं सोमीय यानी अत्ता एवं अद्य के भेद से अधियज्ञभाव वैदिक काण्ड के लक्ष्य हैं। ऐसे प्रकारों में जड़ पदार्थ के सब परिणाम गतासु शरीर मिथ्या कहाते हैं। चेतन पदार्थ का जितना भाव है वह सब अगतासु आत्मा नित्य कहाता है। इनमें मिथ्या पदार्थ सदा मिथ्या ही है और सत्य पदार्थ सदा सत्य ही है। इसमें विद्वान् के लिए शोच्य स्थल कोई नहीं है। क्योंकि आदि एवं अन्त में जो नहीं है वह मध्य में भी नहीं है और जो आदि एवं अन्त में सत्य है वह मध्य में भी सत्य है। यहाँ दृष्टांत जैसे बीज से अङ्कुर के पैदा होने पर बीज प्रतीत नहीं होता है किन्तु है वह बीज रूप। इस तरह आदि और अन्त में जो बीज रूप है वह मध्य में भी बीज रूप है। वृक्ष वगैरह भी आदि और अन्त में बीज रूप हैं तो मध्य में भी बीज रूप ही हैं बीज से अन्य वस्तु नहीं है। इस वेदान्त के रहस्य को यहाँ सूचित किया है ॥११॥

हे अर्जुन ! इस प्राकृत विभूति की अपेक्षा से निरतिशय ऐश्वर्यवाला अत एव सब चर एवं अचर का नियन्ता मैं कभी नहीं था ऐसी बात नहीं है मैं सदा ही था। तुम कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है अपि तु तुम पहले भी थे। ये सब राजा लोग पहले नहीं थे यह बात नहीं है अपि तु ये सब राजा लोग पहले भी थे। अब से आगे हम तुम एवं ये सब लोग नहीं होंगे ऐसा नहीं है अपि तु हम तुम एवं ये सब लोग आगे भी होंगे क्योंकि आत्मा नित्य है। अतः ये मर जायेंगे हम जीयेंगे ऐसा जीने मरने के विषय में शोक पण्डित लोग नहीं करते हैं ॥१२॥

क्योंकि देहधारी आत्मा के इस देह में जैसे कौमार यौवन एवं जरा रूप अवस्थाएँ प्राप्त होती है वैसे इसको दूसरे देह की भी प्राप्ति होती है। यहाँ का भाव यह है जैसे अवस्थाएँ बदलती रहती है वैसे ही देह भी बदलते रहते हैं देही वही रहता है वह नहीं बदलता है अतः धीर जो विचार वाला विवेकी है वह शरीर के बदलने में मोह नहीं करता है। मा ऊह अर्थात् ऊह रहित नहीं होता है वह अवश्य ऊह कर लेता है कि यह देह बदलने की वस्तु है अतः शोक करना व्यर्थ है ॥१३॥

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ॥१४॥

मधुसूदनी

मात्रेति । अत्र मात्रा इत्यस्य प्रमात्रा इत्यर्थः । विनाऽपि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः" इति नियमानुसारं प्रस्य लोपः । मात्रेति मातृ-शब्दस्य तृतीयान्तं पदम् । स्पर्शशब्दस्य "स्पर्शान् कृत्वा व हिर्बाह्यान्" इति गीतावाक्यानसारं मनिन्द्रियविषयाणां सम्बन्धः । "न + इ" इत्यत्र मनोषावच्छकन्ध्वादित्वात्पररूपम् । अयं नियमः आत्मा मनसो युज्यते मन इन्द्रियेभ्यः । इन्द्रियाणि अर्थेभ्यः । ततो ज्ञानमुत्पद्यते एवं मात्रा प्रमात्रा आत्मना सह स्पर्शा मनिन्द्रियविषयसम्बन्धाः शीतोष्णसुख-दुःखदाः । अत्र शीतोष्णपदे सुखदुःखहेतूपलक्षके । तत्तद्वस्तुहेतुकसुख-दु खदाः । इमे स्पर्शास्तथा सुखदु.खहेतवश्च अनित्या आगमापापिनः । अतः हेतुमन्तः कार्याः सुखविशेषाः दुःखविशेषा अपि आगमापापिनः अत एव अनित्याः । तान् सर्वान् तितिक्षस्व सहस्व । अनुभव ॥१४॥

बालक्रीड़ा

अच्छा यह ठीक है कि इस देह का बदलना ही मरना है और नहीं बदलना जीना है । किन्तु कभी अमुक के यहाँ जब बच्चा पैदा होता है तब हम सुखी होते हैं अतः सुख मालूम होता है और कभी जब अमुक मर गया तब हम दुःखी होते हैं अतः दुःख मालूम होता है । इस तरह हर्ष एवं शोक होता है और यह स्थिति पण्डित एवं मूर्ख सबको समान है । तब आप कैसे कहते हैं कि नानुशोचन्ति पण्डिताः । इस पर कहते हैं कि हे कौन्तेय ! एक नियम है आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है तदनुसार माता का प्रमाता आत्मा का (यहाँ मात्रा यह तृतीयान्त पद है) जब स्पर्श माने मन विषयेन्द्रिय सम्बन्ध (यहां स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् के आधार पर स्पर्श शब्द का विषयों के साथ मन आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध अर्थ है) होता है तब जैसे उस सम्बन्ध के कारण शीत वस्तु ग्रीष्म में सुखदायी एवं हेमन्त में दुःखदायी होती हैं और उष्ण वस्तु हेमन्त में सुखदायी एवं ग्रीष्म में दुःखदायी होती हैं यहाँ शीत एवं उष्ण सुखदुःख के हेतुओं का उपलक्षण है अतः उसी तरह

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ !
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

बालक्रीड़ा

अपने एवं मित्रादि के यहाँ बच्चे का पैदा होना सुखदायी है शत्रु के यहाँ पुत्र का पैदा होना दुःखदायी है। इसी तरह व्यक्ति के अनुसार मरना दुःखदायी भी है एवं सुखदायी भी है क्योंकि कभी सुख आता है और कभी दुःख आता है कभी वह जाता है अनित्य है आगमापायी है। और जिस तरह इन शीतादि एवं उष्णादि के बदौलत होने वाले सुख एवं दुःख को तुम सहन करते हो उसी तरह हे भारत! इस जन्म एवं मरण के सुख एवं दुःख को सहन करो इसका हर्ष एवं शोक मत करो एवं मोह मत करो ॥१४॥

अब सहन करने के फल को कहते हैं। हे पुरुषर्षभ! इनको सहने वाले अर्थात् सुख को सुख और दुःख को दुःख नहीं मानने वाले अत एव सुख एवं दुःख के विषय में समभाव रखने वाले जिस धीर पुरुष को ये स्पर्श मन विषयेन्द्रियसम्बन्ध व्यथित विचलित नहीं करते हैं वह अमृतत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है वह अमृत है स्वयं आनन्द रूप है। यहाँ का भाव आत्मा की सिद्धि करना है। १२ वें श्लोक से षड् भाव विकारों से शून्य आत्मा है यह कहा। १३ वें श्लोक से शरीर के साथ रहना किन्तु संग विकार से रहित होकर रहना चाहिए ऐसा बतलाया। १४ वें श्लोक से विषयभोगाभिलाष शून्य रहना बतलाया। १५ वें श्लोक से विषय भोग करता हुआ भी असंग है अर्थात् इन्द्रियों को विषय भोग की सामर्थ्य देता हुआ भी स्वयं चेष्टा शून्य है। निरतिशय आनन्दरूप होने के कारण विषय भोग की चेष्टा आत्मा में बनती नहीं है। अमृतत्वाय कल्पते कहने से विषय भोग छोड़ कर सुख एवं दुःख में समता रखने के फल को मोक्ष कहना प्रकरण के विरुद्ध है क्योंकि यह आत्मा की सिद्धि का प्रकरण है ॥१५॥

अब आत्मा और देह के पारमार्थिक स्वरूप को बतलाते हैं। आदि और अन्त में नहीं रहने वाले असत् पदार्थ का बीच में जो भाव यानी सत्ता प्रतीत होती है वह सत्ता नहीं है वहाँ अधिष्ठान की ही सत्ता

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत! ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

बालक्रीड़ा

प्रतीत होती है जैसे व्यावहारिक सत्तावाले घट कुण्डलादि की एवं प्रातिभासिक सत्तावाले शुक्तिरजत की रज्जुसर्प की सत्ता कभी नहीं है तूलाविद्या और भ्रान्ति से उनका आभास मात्र होता है। आदि और अन्त में रहने वाले सत्पदार्थ का कभी अभाव निषेध नहीं होता है जगत् के बीज आत्मा का अभाव नहीं होता है। तूलाविद्या से वृत्ति के प्रकाशक ज्ञान की तरह मूलाविद्या से आत्मा का स्वरूप तिरोहित हो गया है जिससे प्रतीत नहीं होता है। बीज के अङ्कुरण काल में बीज के स्वरूप की तरह इन दोनों असत् और सत् का अन्त आखिरी अवस्था सत् का सत्य ही रहना असत् का असत्य ही रहना तत्त्वद्रष्टा योगियों ने देखा है ॥१६॥

जिस आत्म तत्व से यह सब अचेतन समूह देह इन्द्रिय आदि व्याप्त हो रहा है उसको अविनाशी जानो। इस अव्यय का विनाश कोई भी काल कर्म अग्नि आदि नहीं कर सकता है ॥१७॥

हे भारत! नित्य आत्मा के ये शरीर अन्त वाले कहे हैं। वह आत्म तत्त्व अविनाशी और अप्रमेय हैं वही नित्य है इस कारण तुम युद्ध करो ॥१८॥

यहाँ युद्ध की विधि नहीं है अनुवाद है। क्योंकि अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त है किन्तु मोह से वह इस समय चुप है उसके मोह का विनाश भगवान् करते हैं कि जो इस आत्मतत्त्व को मारने वाला जानता है और जो मरने वाला बनता है वे दोनों इस आत्मा को नहीं जानते है। यह आत्मा किसी को नहीं मारता और न यह स्वयं किसी से मारा जाता है अतः आत्मा हनन क्रिया का कर्त्ता एवं कर्म नहीं हैं क्योंकि अविक्रिय है। ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

बालक्रीड़ा

सूक्ष्म अर्थ बहुत बार समझाने पर समझ में आता है इस तथ्य को दिखलाने के लिए पहले १२वें श्लोक से लेकर १९ तक के श्लोक में कहे हुए अर्थ को फिर से संक्षेप में कहते हैं। यह आत्मा कभी पैदा नहीं होता है और न मरता है। जन्म उसका नाम है जो पहले नहीं हो फिर हो जाय। यह आत्मा पहले से ही है फिर भी होगा अतः यह पहले किसी भी काल में नहीं होकर फिर भी नहीं होगा ऐसी बात नहीं है क्योंकि उसका जन्म नहीं होता है। मरना उसको कहते है जो पहले हो फिर नहीं रहे किन्तु आत्मा ऐसा नहीं है वह फिर भी है और पहले भी था इससे आत्मा मरता नहीं है। इन आरम्भिक एवं अन्तिम दो विकारों के निषेध से जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इन यास्कोक्त षड् भाव विकारों में से व्यावहारिक अस्तित्व वृद्धि, विपरिणाम एवं अपक्षय रूप चार विकारों का भी निषेध हो गया। आत्मा अज है ऐसा कहने से आत्मा अस्तित्व एवं जन्म इन दो विकारों से रहित हैं ऐसा बतलाया। आत्मा नित्य है सदा एकरस है इससे आत्मा वृद्धि एवं विपरिणाम इन दो विकारों से रहित है यह कहा गया है। शाश्वत शश्वत् सर्वदा होता है अपक्षीण नहीं होता है अपचित नहीं होता है इससे आत्मा अपक्षय एवं विकार से रहित हैं ऐसा बतलाया। पुराण है प्राचीन हुआ भी नया है पहले जैसा अब भी नया है अथवा अब पुराना है किन्तु भविष्य में नया होगा ऐसा भी नहीं है। अर्थात् किसी भी विकार को स्पर्श नहीं करता है सर्वदा एक रूप है न कि इस समय में वह किसी नूतन अवस्था का अनुभव करता है। इस तरह जब कि आत्मा सब विकारों से शून्य है अतः शरीर के हनन से आत्मतत्त्व का हनन नहीं होता है ॥२०॥

जो पुरुष वृद्धि एवं ह्रास से शून्य आत्मतत्त्व को अजन्मा एवं विनाश रहित तथा नित्य सर्वदा एक रस जानता है वह कैसे किसी को मरवाता है अथवा स्वयं मारता है ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

मधुसूदनी

"वासांसि" इति । अत्र पूर्वार्द्धे अपराणि उत्तरार्द्धे अन्यानि इति द्वे पदे । तत्र नास्ति परो येभ्यस्तानि अपराणि उत्कृष्टानि । जीर्णवस्त्रापेक्षया उत्कृष्टानि वस्त्राणि धार्यन्ते । शरीराणि तु मरणोत्तरं उत्कृष्टान्येव धार्याणि इति तु नियमो नास्ति । तदुत्तरं शूकरस्य वा देवस्य वा कर्मानुसारं शरीराणि धार्याणि अतः अपराणीति पदं विहाय अन्यानीति पदमुपात्तम् ॥२२॥

बालक्रीड़ा

जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर नवीन अपर जिससे पर उत्तम नहीं हो ऐसे अत्युत्कृष्ट वस्त्रों को धारण कर लेता है वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीर को त्याग कर अन्य वर्त्तमान शरीर से भिन्न नवीन शरीरों को धारण करता है इसलिए देह का भी शोक करना बनता नहीं है यहाँ वस्त्र का अपर विशेषण और शरीर में अन्य विशेषण साभिप्राय है । इसी लिए हमने दोनों के अलग-अलग अर्थ लिखे हैं ॥२२॥

आत्मा असङ्ग है क्रिया रहित है इसको बतलाते हैं कि इस आत्म तत्त्व को शस्त्र काट नहीं सकते हैं अग्नि जला नहीं सकता है जल गीला नहीं कर सकता है और वायु शुष्क नहीं कर सकता है ॥२३॥

पहले वाले श्लोक में कहा है कि शस्त्रादिक तत्व अपनी क्रियाओं का प्रभाव आत्मतत्त्व पर नहीं डाल सकते हैं । अब कहते हैं कि उन क्रियाओं में ऐसा करने की योग्यता नहीं है क्योंकि आत्म तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है जो शस्त्र के द्वारा छेदन के योग्य नहीं है, अग्नि के द्वारा दहन के योग्य नहीं है, जल के द्वारा क्लेदन के योग्य नहीं है एवं वायु के द्वारा शुष्क करनेके योग्य नहीं है । किन्तु नित्य है सर्वगत है अर्थात् सब तत्त्वों में व्याप्त है स्थाणु है स्थिर है । अचल है ध्रुवादि भी चल हैं किन्तु यह आत्मा चलन रहित है । सनातन है सर्वदा एक सा रहता है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

बालक्रीड़ा

यह आत्म तत्त्व चर्म चक्षुगोचर नहीं है। जो वस्तु इन्द्रियगोचर होता है वह प्रत्यक्ष होने से व्यक्त कहलाता है। यह तो रूपादि रहित है अतः व्यक्त नहीं है अव्यक्त है। अगर कहें कि प्रत्यक्ष नहीं है तो अनुमानवेद्य है इस पर कहते हैं कि यह आत्मा अचिन्त्य है मन से भी पकड़ने के योग्य नहीं है यन्मनोऽनुमनुते त महान्तम् यह श्रुति है अतः अनुमेय भी नहीं है। विकारी भी नहीं है। इससे सम्पूर्ण विकारों से रहित है। इस प्रकार दृढ़ ज्ञान से इस आत्म तत्त्व का निश्चय करके हे अर्जुन ! तुम किसी का शोक मत करो ॥२५॥

हे महाबाहो ! वीरता के लक्षण वाले ! तुम यदि आत्म तत्त्व को नित्य जात मानते हो यानी नित्य भी है और उत्पन्न भी होता है ऐसा मानते हो और नित्य को मृत मानते हो अर्थात् जन्ममरण धर्म वाला ससारी भी आत्मा को मानते हो तब भी शोक करना उचित नहीं है ॥२६॥

क्योंकि जो पैदा हुआ है उस की मृत्यु ध्रुव है निश्चित है। इसी तरह मरे हुए का जन्म भी ध्रुव है अवश्यं भावी है। इसलिए जो अर्थ अपरिहार्य है जिसको टाला नहीं जा सकता है उस अर्थ के विषय में शोक तुम्हें नहीं करना चाहिए ॥२७॥

हे भारत ! मनुष्यादि समस्त भूतों की प्रथम अवस्था अव्यक्त नामक प्रकृति है। मध्यम अवस्था व्यक्त है दृश्य है और अन्तिम अवस्था भी प्रकृति है अर्थात् आविर्भाव तिरोभाव रूप प्रवाह से सब ही पदार्थ नित्य हैं इनका शोक करना अज्ञान है। इस विषय में परिदेवना रोना पीटना क्या है यानी परिदेवना नहीं करना चाहिए ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत!।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

बालक्रीड़ा

आत्म तत्त्व की दुर्ज्ञेयता को कहते हैं कि सब ही पदार्थ नित्य और प्रत्येक रूप से अनन्त हैं तो जिस का कभी तिरोभाव होता ही नहीं जो सदा एक अखण्ड रूप में विद्यमान है उस को देखना आश्चर्य है। (यहाँ स्वार्थ में वत् प्रत्यय है) अर्थात् जो आत्म तत्त्व को पहचानता है उसका वह जानना आश्चर्य ही है। जो कोई इस आत्म तत्त्व को कहता है वह भी आश्चर्य है क्योंकि कहना शब्द का धर्म है और आत्मा शब्द मे भी सूक्ष्म है। जो कोई इस आत्म तत्त्व को सुनता है वह भी आश्चर्य है क्योंकि सुनना भो शब्द का ही होता है वह आत्मस्वरूप नहीं है। कोई तो इस आत्मतत्त्व को देखकर कह कर और सुन कर भी नहीं जानता है अर्थात् श्रवणमननादि के अत्यन्त अभ्यास के पाटव से आत्मा का साक्षात्कार होता है. इससे शरीरादिको में वैसा होना भ्रान्ति ही है ॥२९॥

हे भारत! अत्यन्त सूक्ष्म होने से आत्मतत्त्व प्रतीत नहीं भी होवे तब भी यह समझो कि यह आत्मतत्त्व सम्पूर्ण भूतों के शरीर में नित्य अवध्य है कभी भी वध के योग्य नहीं है ऐसा समझकर सम्पूर्ण भूतों का शोक करना तुमको उचित नहीं है ॥३०॥

हे अर्जुन! सांख्य की दृष्टि से सत्कार्य वाद में कभी पदार्थों का अभाव नहीं होता है अतः हिंसादि का भी अभाव नहीं है। वह पहले से ही है अत जैसे उनमें मारने और मरवाने की सम्भावना नहीं है वैसे कर्ममीमांसा की दृष्टि से भी विधि तथा निषेध का विषय एक अर्थ नहीं होता है इससे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की प्रसक्ति में विधि से संस्पष्ट अर्थ में निषेध नहीं जाता है अतः धर्म के अनुष्ठान में अधर्म की शङ्का करना शास्त्र विरुद्ध है इस लिये क्षत्रिय का युद्ध ही धर्म है ऐसा विचार करके

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथा ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

बाल क्रीड़ा

युद्ध करने के विषय में कम्पित होना शङ्का करना अर्थात् भीत होना उचित नहीं है । इस का शास्त्र रूप से निर्देश करते हैं कि धर्म युद्ध से अन्य क्षत्रिय के लिए कोई श्रेय नहीं है अतः प्रकृत में युद्ध के सिवाय कोई भी कर्तव्य क्षत्रिय के लायक नहीं है । ३१॥

हे पार्थ ! यह धर्मयुक्त युद्ध है जो तुम्हारे लिए यदृच्छा या ऋच्छा से स्वातन्त्र्य से उपस्थित हुआ है । और यह युद्ध खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है । ऐसे युद्ध को सुखी क्षत्रिय ही पा सकते हैं वह तुमको प्राप्त हुआ है अतः युद्ध करो ॥३२॥

यदि तुम धर्म प्राप्त इस संग्राम को नहीं करोगे तो अपने धर्म एवं कीर्ति को त्याग करके पाप को प्राप्त करोगे ॥३३॥

इस तरह पाप के भागी होने के सिवाय सभी आपामर प्राणिमात्र कभी भी नहीं मिटने वाली तुम्हारी अकीर्ति को निन्दा को कहेंगे । यहाँ भूतानि इस नपुसंक लिंग से यह सूचित होता है कि जो कहने के अयोग्य हैं वे भी तुम्हारी निन्दा को कहेंगे । इस तथ्य को भी समझना अतीव आवश्यक है कि बहुतों के द्वारा बहुत गुणों से संभावित यानी बहुत माने गये महापुरुष की निन्दा मरण से भी बढ़कर है । अतः निन्दा सुनने की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है ॥३४॥

यदि तुम यदृच्छा से प्राप्त इस धर्मयुद्ध को नही करोगे तो ये बड़े बड़े महारथी जो तुमको अनन्य साधारण गुणों के कारण बहुत बड़ा मानते हैं वे भी युद्ध से तुम्हारे उपराम को बन्धुओं के स्नेह के कारण हुआ न मानकर भय के कारण हुआ मानेंगे । जिससे तुम बहुमत होकर भी तुच्छ हो जावोगे क्षुद्र माने जावोगे । ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

मधुसूदनी

अर्जुनोक्तो भगवान् मधुसूदन उभयोः सेनयार्मध्ये रथोत्तमं स्थापयामास । तत्रार्जुनः सेनयोरुभयोरपि स्वजनान् कुटुम्बिनः संगान् सह गच्छन्तीति सगास्तान् सम्बन्धिनः पूज्यान् गुरुप्रभृतींश्च युयुत्सया सन्नद्धान् ददर्श है । तस्मिन् विषमे समये अर्थादनवसरे तेषां हननविषये "एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन !" "हत्वैतान् का प्रीतिः स्यादित्येव दशवारं हन्ति प्रयुयोज ।

बालक्रीड़ा

और शत्रु लोग तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए नहीं कहने के लायक दुर्वचनों को तुम्हें कहेंगे । तुम ही कहो कि शूर वीर के लिये इससे अधिक दुःख क्या हो सकता है ॥३६॥

हे कौन्तेय ! जो युद्ध में पाण्डु की सहचरी थी उस कुन्ती के पुत्र हे अर्जुन ! यदि तुम युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग में जाओगे और जीतोगे तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे । इस वास्ते युद्ध करने का निश्चय करके युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ॥३७॥

निष्काम कर्मानुष्ठान बन्ध का हेतु नहीं होता है इसको कहते हैं । सुख एवं दुःख, जय और पराजय, हानि और लाभ को समान मानकर कर्तव्य समझ कर युद्ध में सन्नद्ध हो जाओ । इस प्रकार कर्तव्य पालन की बुद्धि से युद्ध करने पर पाप के भागी नहीं होओगे । क्योंकि धर्म एवं अधर्म के फल सुख और दुःख की वासना का त्याग कर अनुष्ठान मात्र करना निष्काम कर्म कहलाता है और निष्काम कर्म करने से पुण्य का सम्पर्क होने पर भी पाप का सम्पर्क नहीं होता है ' इनको मारने से हमको पाप लगेगा" इसका उत्तर भगवान् ने यहाँ दिया ।

मधुसूदनी

तथाहि-तत्र प्रथमेऽध्याये १ "हत्वा" इति एकत्रिंशे श्लोके २ एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपीति "पञ्चत्रिंशे" श्लोके, ३ निहत्येति षड्त्रिंशे श्लोके ४ "हत्वैतान्" इति षड्त्रिंशे श्लोके, ५ "हन्तुं नार्हाः" इति सप्तत्रिंशे श्लोके, ६ "स्वजनं हि कथं हत्वा" इति सप्तत्रिंशे श्लोके, ७ "हन्तुं स्वजन-मुद्यताः" इति पञ्चचत्वारिंशे, ८ "धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः" इति षड् चत्वारिंशे। द्वितीयेऽध्याये, ९ "हत्वार्थकामान्" इति पञ्चमे श्लोके १० "यानेव हत्वा" इति षष्ठे श्लोके। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे अर्जुनः पुनः प्रोवाच यद् भूमौ निःशत्रु समृद्धं राज्यं, स्वर्गे सुराणामाधिपत्यञ्च (अधिपते-र्भाव इति विग्रहे अश्वपत्यादिगणे पाठाभावादश्वपत्यादिभ्यश्चेति सूत्रे। अकृतेऽणि दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदादिति ण्ये कृते निष्पन्नम्) अवा-प्यापि तन्न हि प्रपश्यामि यन्मम इन्द्रियाणां शोकमपनुद्यादतोऽहं न योत्स्ये" इति।

बालक्रीड़ा

भगवान् ने जब दोनों सेनाओं के मध्य में रथ को खड़ा कर दिया तब अर्जुन ने अपने कुटुम्बियों को सगे सम्बन्धियों को एवं पूज्य गुरुजनों को युद्ध करने के लिए सन्नद्ध देखा। उस समय उसने उन लोगों के प्रसङ्ग में प्रथम अध्याय के ३१ वें श्लोक में "हत्वा", ३५ वें श्लोक में "न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि", ३६ वें श्लोकमें "निहत्य", ३६वें श्लोक में "हत्वैतान्", ३७ वें श्लोक में "हन्तुं नार्हाः", ३७ वें श्लोक में "कथं हत्वा", ४५वें श्लोक में "हन्तुम", ४६वें श्लोक में "हन्युः" एवं द्वितीय अध्याय के ५ वें श्लोक में "हत्वार्थकामान्", ६ वें श्लोक में "यानेव हत्वा" इस प्रकार १० दफे मारने के विषय में कहा और इसके बाद इसी प्रसङ्ग में फिर अर्जुन ने कहा कि पृथ्वी के राज्य और देवताओं के आधिपत्य [आधिपतेर्भावः आधिपत्यम् इसमें अश्वपत्यादि गण में अधिपति शब्द का पाठ नहीं होने से अश्वपत्यादिभ्यश्च सूत्र से अण् प्रत्यय नहीं हुआ है अपि तु "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्" सूत्र से ण्य प्रत्यय हुआ है यह प्रासङ्गिक है] को प्राप्त करके भी उस तत्त्व को मैं नहीं देख रहा हूं जो इन लोगों के मारने से होने वाले मेरे शोक का अपनोदन कर दे अतः मैं युद्ध नहीं करूंगा।

मधुसूदनी

एतर्हि दुरापं स्वापं, दुष्करं सुकरं, दुर्गं सुगं, दुश्चरं सुचरं कर्त्तुं कारयितुश्च सुखसूखेन अलंकर्मीणः योगमार्गे कुशलोऽत एव दुर्जेतव्यान् कामक्रोधादिविकारान् पराजेतु जनानवबोधयितुं प्रवीणो भगवान् मधुसूदनः अर्जुनं बोधयामास। अत्र बोधनीयं त्रयम्। कुतोऽयं ते शोकः। मातु शोचः, मा प्रज्ञया वादं तत्वविवेदिषोरिव वाक्यं प्रभाषीरिति शोकाकरणमेकम्। नायं कमपि हन्ति, अथ चायं न केनापि हन्यते इति हननराहित्यं द्वितीयम्। देहशब्दार्थं उपचयः। तत्र सिद्धान्तः। "सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रया:" इति आरम्भे उपचयवानपि पर्यन्ते क्षयिष्णुर्भवति तस्मादपरिहार्येण विनशनशीलो देहः। आत्मा च अजो नित्यः शाश्वतोऽविनाशी तस्माद्युध्यस्वेति युद्धकरणं तृतीयम्। एतत्त्रितय सङ्गतवाक्यैर्बोधयति स्म। यदा नैवं शोचितुमर्हति इति बोधयति तदैव युध्यस्वेति अथ च नायं हन्ति न हन्यते इत्याद्यपि। तत्र हनन वाक्यानि—

बालक्रीड़ा

इस प्रकार "मारना और मारने से होने वाले शोक के अपनोदन-कर्त्ता को नहीं देखना तथा उसके नहीं देख पाने पर "युद्ध नहीं करूँगा" ऐसा कहना" इन तीन बातों का उत्तर भगवान् सङ्गत वाक्यों से अर्थात् मारने का और शोक को दूर करने का तथा युद्ध को नहीं करने का उत्तर युक्ति युक्त वाक्यों से करते हैं। कभी मारने का उत्तर कभी शोक को नहीं करना चाहिए ऐसा उत्तर तथा कभी युद्ध के लिए प्रेरणा देना रूप उत्तर देते हैं। अलग २ करके क्रमशः उत्तर देते हैं। जैसे द्वितीय अध्याय के १९ वं श्लोक "हन्तारम्" में १९ वें श्लोक "हतम्" में १९ वें श्लोक "नायं हन्ति" में १९ वें श्लोक "न हन्यते" में २० वें श्लोक "न हन्त्यते" में २० वें "हन्यमाने" में २१ वें श्लोक "कं घातयति" में २१ वें "हन्ति कं" में।

मरने एवं मारने का विरोध किया और यह भी समझाया कि देह शब्द का अर्थ उपचय है। जिसके बारे में यह सिद्धान्त भी सदा से ही बना हुआ है कि (सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः) आरम्भ में जिनका उपचय होता है अन्त में उनका नाश होता है इसी तरह

मधुसूदनी

१ "हन्तारम्" इति एकोनविंशे पद्ये। २ "हतम् इति तत्रैव पद्ये। ३ "नायं हन्ति" इति तत्रैव पद्ये। ४ "न हन्यते" इति तत्रैव पद्ये। ५ "न हन्यते" इति विंशे पद्ये। ६ "हन्यमाने" इति तत्रैव पद्ये। ७ "कं घातयति" इति एकविंशे पद्ये। ८ 'हन्ति कम्" इति एकविंशे पद्ये इति। अतः परं शास्त्रपरिष्कृतबुद्धयः पण्डिताः शोकसविग्नमानसा न भवन्ति। इत्यर्थकानि।

१ "नानुशोचयन्ति पण्डिताः" इति एकादशे श्लोके २ "नानुशोचितुमर्हसि" इति पञ्चविंशे ३ "नैवं शोचितुमर्हसि" इति षड्विंशे ४ "न त्वं शोचितुमर्हसि" इति सप्तविंशे ५ 'न त्वं शोचितुमर्हसि" इति त्रिंशे श्लोके। इमानि पञ्च वाक्यानि। ततः पर १ 'तस्माद्युध्यस्व भारत! इति अष्टादशे २ 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" इति एकत्रिंशे ३ 'लभन्ते युद्धमीदृशम्' इति द्वात्रिंशे। ४ 'संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि" इति त्रयस्त्रिंशे' ५ युद्ध-

बालक्रीड़ा

आरम्भ में जिनका समुच्छ्रय होना है उन्नति होती है अन्त में उनका पतन भी होता है इस लिए इस आने जाने वाले अपरिहार्य रूप से विनशन शील पदार्थ के विषय में मरने मारने की चर्चा करना व्यर्थ है देही आत्मा नित्य है अविनाशी है। न यह पैदा होता है न यह मरता है तथा न यह किसी को मारता है और न इसको कोई मारता है या मार सकता है। क्योंकि शस्त्र इस को काट नहीं सकते हैं अग्नि इसको जला नहीं सकता हैं जल इस को गीला नहीं कर सकता है अतः जिन लोगों के मारने का या मरने का शोक कर रहे हो वे लोग अशोच्य हैं। और जो बुद्धि को शास्त्र से परिष्कृत किये विना अपरिष्कृत बुद्धि से वाद को प्रज्ञमन्यता की बातों को कहते हो उन्हे नहीं कहना चाहिए यह तुम को जानना चाहिए कि शास्त्रपरिष्कृतबुद्धिवाले पण्डित लोग इस मरने जीने के बारे में शोक नहीं करते है। इस तथ्य को ११ वें श्लोक नानुशोचन्ति पण्डिताः में, २५वें श्लोक नानुशोचितुमर्हसि में, २६वें श्लोक नैवं शोचितुमर्हसि में, २७वें श्लोक नैवं शोचितुमर्हसि में, ३०वें श्लोक न त्वं शोचितुमर्हसि में, पांच बार समझाया कि तुम को

मधुसूदनी

स्याकरणेऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते इति चतुस्त्रिंशे श्लोके ६ "भयाद्रणा-दुपरतम्" इति पञ्चत्रिंशे ७ "उत्तिष्ठ युद्धाय कृतनिश्चयः" इति सप्तत्रिंशे ८ "ततो युद्धाय युज्यस्व" इति अष्टत्रिंशे श्लोके इति इमानि वाक्यान्यष्टौ योद्धुं प्रेरकाणि। एवं हि युद्धस्थले युद्धार्थमागतोऽर्जुनः दशवारं हनने दोषान् दर्शयामास। तद्विरुद्धं भगवान् हनने अष्टवारं दोषाभावं जगाद। ततः परमर्जुनः एकवारं कथयामास यदहं शोकाकुलः। तद्विपरीतं भगवान् शोको न कर्त्तव्य इति पञ्चवारमुपदिदेश तस्मै। एतत्प्रसङ्गे एवार्जुनो वारमेकं जगाद यदहं न योत्स्ये। तत्प्रतिकूलं भगवान् अष्टवारं युद्धाय प्रेरयामास। एवं अर्जुनः शशङ्के भगवान् मधुसूदनः समादधौ। ततः अर्जुनेन युद्धे प्रवर्त्तनीयम्। अतः शस्त्रसम्पातेऽस्मिन्काले किमिति स ब्रह्मविद्यामत्तु इयतीं बृहतीमुपनिषदं जगौ इति शिष्यः अप्राक्षीत्।

बालक्रीड़ा

शोक नहीं करना चाहिए इसी के बाद १८ वें तस्माद्युध्यस्व भारत! श्लोक में, ३१वें "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" श्लोक में, ३२वें "लभन्ते युद्धमीदृशम्, ३३ ३४वें श्लोक में, संग्रामं न करिष्यसि ३४ वें श्लोक में, युद्धस्याकरणेऽकीर्तिः ३५-३६वें श्लोक में, भयाद्रणादु-परतम् ३७ वें श्लोक में, उत्तिष्ठ युद्धाय कृतनिश्चयः ३८ वें में, ततो युद्धाय युज्यस्व इस प्रकार ८ दफे युद्ध करने की प्रेरणा दी। इसके लिखने का यह आशय है कि जिस प्रसङ्ग के लिए अर्जुन और भगवान् युद्ध स्थल में आये थे वह प्रसङ्ग समाप्त हो गया क्योंकि अपरिहार्य अर्थ के बारे में शोक करना व्यर्थ है और बुद्धिवाद की बातें करना अनुचित है अतः युद्ध करना चाहिए। इस तरह युद्ध करना जब प्राप्त हो गया तब इतने बड़े रूप में अर्थात् १७॥ अध्यायं के रूप में उपनिषदों के गाने का कोई प्रसङ्ग अवशेष नहीं रह गया था गीता ग्रन्थ को समाप्त करना चाहिए था किन्तु इतना समझाने के समय में भगवान् ने कहा कि अब तक जो मैंने तुमको समझाया बुझाया वह सांख्यबुद्धि के अनुसार था। अब मैं इसको योगबुद्धि से समझाता हूँ। बस यह कर्म योग मार्ग के समझाने का उपक्रम करना ही ब्रह्मविद्यासम्बन्धी उप-निषदों के विषय में इतने बड़े गान के करने का अवसर बन गया ॥३८॥

मधुसूदनी

तमुदतारीद्गुरु । यदत्र प्रसङ्गे अर्जुनमधुसूदनौ परस्परं कथनोपकथनं चक्रतु । तस्मिन्नेव प्रसङ्गे भगवानुवाच "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि योगे त्विमां शृणु" । एवं कर्मयोगं बोधयितुं यदा प्रववृते भगवान् तदा यथा कदल्याः पत्रे पत्रे पत्र तथैव चतुरस्य वार्त्तायां वार्त्तायामुप वार्त्ताः स्यूताः अतः इयताः ब्रह्मविद्यासम्बन्धिनी उपनिषदो जगौ । इति समं समञ्जसम् ।

पूर्वश्लोकार्थस्य उत्तरश्लोकार्थेन सह सम्बन्धं विश्लेषयति । इमे गतासवः मृता इमे अगतासवो जीवन्ति इत्येवं शोको न विधेयः । यतो ये इदानीं गतासवस्ते पुनरग्रेऽपि भविष्यन्ति ते पूर्वमप्यासन् । एवमेव ये इदानीमगतासवो जीवन्ति ते पूर्वं न मृताः किमग्रे वा न मरिष्यन्ति किम् पुनर्भविष्यन्ति च । कुत एतदित्याह देहिनो देहो नतु देहस्य देही । यतो देही स एव यः पूर्वमासीत् यः अग्रेऽपि भविष्यति सैवेदानीमपि । परं देहो भिन्नः । यः पूर्वमासीत्स देह इदानीं नास्ति य इदानीमस्ति सोऽग्रे न भविष्यति य अग्रे भविष्यति स पूर्वमपि नासीत् इदानीमपि नास्ति । एवं देहिना प्रमात्रा सह देहस्य स्पर्शाः संयोगवियोगाख्या भवन्ति ।

[ननु भोः अत्र "मात्रेति" शब्दः न तु प्रमात्रा शब्द इति चेच्छृणु । विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति वार्त्तिकेन प्रस्य लोपः । "सन्ध्यावधू गृह्य करेण इत्यत्रत्यगृह्यपदस्थप्रस्य लोपवत् । यद्यत्र प्रो नाभविष्यत्तर्हि क्त्वः स्थाने ल्यप् नाभविष्यत् । इद प्रासङ्गिकम्] ।

ननु देहिना सह देहस्य संयोगे अमुको जातः इति सुखं भवति तस्य वियोगे च दुःखं भवति । इत्यत्राह शीतेति । अत्र शीतोष्णपदे सुखदुःखहेतुकवस्तुपरे । यथा शीतं कदाचित् ग्रीष्मतौ सुखं ददाति कदाचिद् हेमन्ते दुःखम् एवमेव उष्णमपि । तद्वत् किञ्चिद्वस्तु कदाचित्सुखं कदाचिद् दुःखम् । ननु कुत एतयोः सुख-दुःखयोर्नियतत्वं नास्ति अनियतत्वमेवेत्यत आह आगमापायिन इति । एते संयोगवियोगाख्याः स्पर्शा आगच्छन्ति गच्छन्ति च अत एवानित्याः ध्रुवा न । कारणस्य स्पर्शस्य गुणाः कार्ये सुखदुःखरूपे पदार्थेऽपि ते सन्ति । कारणगुणाः कार्यगुणानारम्भन्ते । इति न्यायात । अयं भावः । यथा देहावच्छेदेन देहे कौमारयौवनजरा भिन्ना २ अवस्था आगच्छन्ति गच्छन्ति च ताः सर्वोऽपि अनुभवति परं तेन तत्र कोऽपि मुह्यति तथैव भिन्नानां २ देहानां

मधुसूदनी

प्राप्तावपि धीरो न मुह्यति। इदं सुखं इदं दुःखमिति सुखे सुखी दुःखे दुःखी न भवति समस्तिष्ठति एवमेव हे भारत! त्वमपि धीरः सन् तान् तितिक्षस्व अनुभव।

ततः किं स्यादित्यनुभवस्य फलमाह—यं समदुःखसुखं धीरमेते स्पर्शा न व्यथयन्ति न विचालयन्ति स धीरः अमृतत्वाय कल्पते अमृतत्व प्राप्तुं समर्थो भवति। तुमुन्नर्थे चतुर्थी। आनन्दरूपोऽमृतो विभातीति श्रुतेरानन्दरूपोऽमृत एव भवति। ननु कुतो नैते तं व्यथयन्ति इत्यत्राह नासत इति। ज्ञाने परिसमाप्यते इत्युक्त्या सतः भावभूतस्य पदार्थस्य अभावो न हि भवति। अभावभूतस्य तस्य भावो न इत्येवं तत्त्वदर्शिभिस्तत्वज्ञानिभिरन्तो निर्णयो दृष्टः ज्ञातः सदसद्विषयकभावाभावयोर्ज्ञानं तेषां जातम्, इत्यर्थः।

ननु कीदृशो निर्णयो दृष्ट इत्यत आह अविनाशि इति। येन इदं पुरतो दृश्यमानं सर्वं विश्वं ततं विस्तृतं तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः इत्याद्युक्तेः सम्भूतम्। तदविनाशि। अस्य विश्वात्मनः सर्वगतस्य अविनशनशीलस्य विनाशमभावं कर्त्तुं कश्चिदपि नार्हति। अतः सर्वदा तस्य सतः भाव एव। एवम्भूतस्य अविनाशिनो देहिनः इमे पुरतो दृश्यमाना देहा अन्तवन्तः। अत्र नित्ययोगे मतुप्। अतः सर्वस्मिन् काले देशे च अभावभूतस्य पदार्थस्याभाव एव। नास्ति कश्चित्संशयलेश। इति यस्माद्देहिदेहयोर्विषये एतादृशो निर्णयस्तस्माद्युध्यस्वेति पर्यवसितम्। य एन वेत्तीति प्रभृतिषु देही नित्यमवध्योऽयमिति पर्यन्तेषु पद्येषु सर्वत्र एनमिति एतच्छब्दार्थः अयमिति इदंशब्दार्थश्च आत्मा। अतो नित्यजातमित्यस्य नियमेन शरीरेन्द्रियप्राणादिसम्बन्धाविच्छेदवन्तमात्मानमित्यर्थः तथा जातस्य शरीरेन्द्रियप्राणादिसम्बन्धवत आत्मनः ध्रुवो मृत्युः शरीरेन्द्रियप्राणादिसम्बन्धविच्छेद आवश्यकः। एवं शाश्वतस्य विनाशः अजस्य नित्यस्य जन्म आश्चर्यम्। एतत्कथनमाश्चर्यवत् एतच्छ्रवणमाश्चर्यवत् अतो जीवच्छरीरस्य जन्म तादृशस्यैव मृत्युरित्यादि व्याख्यानमनुसन्धेलिमं सर्वत्रात्रेति। एवमेवात्र प्रकरणे त्वमिति ते इति त्वा मति तवेति युष्मच्छब्दार्थः शरीरेन्द्रियप्राणादिसम्बन्धवान्जीवः ।।३८।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मधुसूदनी

अर्जुनः तस्मिन् विषमे शस्त्रसम्पातप्रवृत्तिसमये सगानां सम्बन्धिनां पूज्यानां गुरुप्रभृतीनाञ्च हननविषये एतान्न हन्तुमिच्छामि इति हत्वैतान् का प्रीतिः स्यादित्येवं दशवारं हन्ति प्रयुयोज । ततः एकवारं स्वस्य शोकाकुलत्वं निदर्शयामास पुनः अहं न योत्स्ये इत्येवमेकवारं युद्धाकरणं समर्थयाञ्चकार ।

एतद्विरुद्धं भगवान् "नायं हन्ति" "न हन्यत" इत्येवमष्टवारं । त्वया हन्तु न शक्यते इति प्रवोधयामास । ततो नानुशोचन्ति पण्डिता इत्येवं पञ्चवारं शोकाकरणीयत्वं निरूपयामास । पुनः तस्माद्युध्यस्व भारत ! इति धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्येवमष्टवारं योद्धुं प्रेरयामास ।

अनया रीत्या एतावत्पर्यन्तमिमां कर्त्तव्यबुद्धिं त्रयस्त्रिंशता संख्यया निर्धारणीये सांख्ये ज्ञाने तुभ्यमहमुपादिशम् । इदानीं तामेव कर्त्तव्यबुद्धिं कर्मयोगे समुपदिशामि । यया कर्मबन्धं प्रहास्यसि अर्थात् कर्मानुसारमेव जीवस्य जन्ममृत्युजराव्याव्यादयः प्रभवन्ति यदा कर्मकृतो वन्धः सम्बन्धः एव यया बुद्धया न जनिष्यति तदा जन्मादि कुतः स्यात् ॥३९॥

बालक्रीड़ा

हे पार्थ ! यह मैंने तुम्हारे लिए सांख्य की वुद्धि का उपदेश दिया अब तुम योग के विषय की बुद्धि को सुनो । जिस बुद्धि से युक्त तुम कर्मोंसे होने वाले बन्धन को तोड़ दोगे । ॥३९॥

इस ब्रह्मसत्र रूप कर्म में अभिक्रम का कर्म के फलका नाश नहीं होता है और पूर्वापर अङ्ग के अनुष्ठान नहीं करने एवं छूट जाने से प्रत्यवाय नहीं होता है दोष नहीं लगता हैं । इस कर्म योग रूप धर्म का स्वल्प भी अंश या आचरण महाभय से रक्षा करता है अर्थात् वैसे सांख्यबुद्धि की अपेक्षा योगवुद्धि सुगम है जैसे निर्बीज समाधि की अपेक्षा सवीज समाधि सहज साधन है । अभिक्रम शब्द का भाव में

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४ ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

मधुसूदनी

कुत एतदित्याह—इह योगे अभिक्रमनाशो नास्ति अर्थात् सावधिकस्य कर्मणो नाशात् तत्फलमपि नश्यति इति नहि भवति। साङ्गोपाङ्ग कर्माकरणात्प्रत्यवायो भवेदित्यपि नास्ति। अपि तु अस्य धर्मस्य अस्या योगबुद्धेः स्वल्पमपि भावप्रधाननिर्देशः स्वल्पत्वमपि। अर्थादनुष्ठितः स्वल्पोऽपि धर्मः महता भयात्त्रायते ॥४०॥

व्यवसेति। अत्र पाठे क्रमभङ्गो वर्तते। अतः पूर्वार्धानुरोधेन "बुद्धयोऽव्यवसायिकाः इत्युत्तरार्धपाठोऽपेक्षितः। अथवा उत्तरार्धानुरोधेन बुद्धिर्या व्यवसायिनां सैकेह इति पूर्वार्धपाठोऽपेक्षितः ॥४१॥

बालक्रीड़ा

घञ् करने पर आरम्भ अर्थ है और कर्म में घञ् करने पर आरब्ध अर्थ है किन्तु यहाँ कर्म का फल अर्थ हैं ॥४०॥

हे कुरुनन्दन ! यह तुम को सांख्य के विषय की बुद्धि कही गई है और जो योग के विषय की बुद्धि को कहेंगे वह व्यवसायात्मिका निश्चयात्मकभाव वाली बुद्धि एक ही है। यहां परमात्मा के स्वरूप का आलम्बन करने वाली बुद्धि को व्यवसायात्मिका कहा है क्योंकि इसमें निश्चित सत्य फल का अवलम्बन किया जाता है। अव्यवसायी जिन्होंने सत्य फ़ल का निश्चय नहीं किया है उनकी बुद्धि बहुत शाखाओं वाली तथा अनन्त नाना कल्पनाओं को करने वाली होती है अर्थात् भोग वासना वाली बुद्धि अनन्त प्रकार के भोगों की कल्पना करती हुई बहुशाखा वाले विषय सुखों का अवलम्बन करती है इससे वह बुद्धि कभी एकाग्र नहीं होती है और एक भी नहीं होती है ॥४१॥

हे पार्थ ! परमात्मतत्त्व के विचार में अकुशल वेद के अर्थ वाद में सत्य निश्चय करने वाले हैं अर्थात् वेद का सिद्धान्त स्वर्गादि सुख से अन्य कोई साध्य नहीं है ऐसा कहने वाले पुरुष कामनामय होकर स्वर्गादि भोगों के साधनों में परायण होते हैं और भोग एवं ऐश्वर्य की

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

मधुसूदनी

यामिति । ये विशेषं पश्यन्तोऽपि न चेतन्ति ते अविपश्चितः अत एव वेदस्य अर्थवादे रताः अवश्यमेव प्राप्तव्यमित्यनुसन्धाने संलग्नाः । वेद-साध्यादन्यन्नास्तीति वादिनः अत एव स्वर्गपराः । भोगस्य ऐश्वर्यस्य च प्राप्तिविषये कामात्मानः काम्यकर्मकरणविषयकान्तःकरणाः जन्मकर्म फलप्रदां क्रियाणां विशेषाः भेदास्तैर्बहुलां पण्णवतिसहस्ररूपेण विततां पुष्पितां पुष्पफलवतीमिमां वेदरूपां वाचं वदन्ति वेदानुसरणाद् भोगैश्वर्य-प्राप्तिर्भवितीति वदन्ति ॥४२-४३॥

एवं वादिनां कीदृशो स्थितिरित्याह-भोगेति । तथा पूर्वनिर्दिष्टया वेदरूपया वाचा अपहृतचेतसां आकुलीकृतान्तःकरणानाम् । अत एव भोगे भोगप्रयोजकैश्वर्ये च संलग्नानां पुरुषाणां समाधौ अन्तःकरणे व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते विधिप्राप्ता न हि भवति ॥४४॥

वेदमनुसरतामियं स्थितिस्तर्हि किं विधेयमित्याह – त्रैगुण्येति ।

बालक्रीड़ा

प्राप्ति के लिए क्रियाविशेष की बहुलता वाली एवं पुष्पित लता के सदृश नाना रोचक वाक्यों से युक्त वेदवाणी को कहते हैं तथा इस वाणी के द्वारा अपहृत चित्त वाले रहते हैं अतः भोग एवं ऐश्वर्य में प्रीति करने वाले पुरुषों की बुद्धि समाधि में योग में नहीं लग सकती है। इसीलिए उस बुद्धि को बहुशाखावाली और अनन्त व्यवसायकारिणी कहा है ॥४२।४३.४४॥

हे अर्जुन ! वेदों का विषय प्रतिपाद्य त्रैगुण्य है अर्थात् त्रिगुणात्मक संसार है अतः ये वेद तीन गुणों से रचे पदार्थों में त्रिगुणात्मक अधिका-रियों के ही अधिकार का बोधन करते हैं। इससे उन अधिकारियों का

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

मधुसूदनी

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि" इत्याद्युक्त्वाऽपि पुनः अच्छेद्योऽयमित्याद्युक्तिः पुनरुक्तिदोषग्रस्ता इति विभावनीयम् । अच्छेद्यत्वम्, अदाह्यत्वम् अक्लेद्यत्वम् अशोष्यत्वं छायाया अपि भवति । पदार्थसहवर्तिनी छायाऽपि एतादृशी भवति । अथ च तेजसः किरणा अपि एतादृशो भवन्ति ।

अतः अच्छेद्यत्वादि यथेश्वरस्य तथा छायाकिरणयोरपि । को विशेषः नास्ति विशेषः । अथ च स्थाणुत्वमचलत्वमपि छायायाः स्तः । पद्भ्यां विना स गच्छति । इमे अपि गच्छतः । सर्वगतत्वमीश्वरे छायायामपि सर्वगतत्वम् । छायाऽपि सर्वपदार्थजातस्य भवति सर्वस्मिन् पदार्थे अस्ति । ईश्वरः अणोरणीयान् महतो महीयान् । छायाकिरणौ अपि तथा स्तः अणो पदार्थस्य अणीयसी छाया महतो महीयसी छाया एवमेव किरणोऽपि । परमीश्वरः नित्यः शाश्वतः ।

हे अर्जुन ! वेदानां विषयः प्रतिपाद्यः त्रैगुण्यः अर्थात् त्रिगुणात्मकः संसारः । अतो वेदाः त्रिभिः गुणैः रचितेषु पदार्थेषु त्रिगुणात्मकानामधिकारिणामधिकारं बोधयन्ति । तेषु तेषामधिकार अतस्त्वं निस्त्रैगुण्यो भव । अर्थात् सुखदुःख लाभालाभ जयाजयरूप द्वन्द्वै रहितो भव । नित्यसत्वे शुद्धबुद्धितत्वे स्थितः योगक्षेमरहितो भूत्वा विचारय । यत् आत्मतत्वलाभात् वैदि स्वर्गादिपदार्थानां को भेदः । एवमात्ममहत्व प्रतीतेरुत्तरमात्मतत्वविचारे तत्परो भव ॥४५॥

बालक्रीड़ा

समाधि में अधिकार नहीं है । समाधि में अधिकार उन्हीं लोगों का है जिनकी त्रिगुणात्मक अधिकारों में कामना नहीं है । अतः तुम निस्त्रैगुण्य हो जावो जिससे सुख दुख, हानि लाभ, जय पराजय आदि द्वन्द्वों से रहित और नित्य सत्व जो शुद्ध बुद्धि तत्त्व है उसमें स्थित होकर योग क्षेम को परवाह नहीं करके विचार करो कि आत्मतत्व के लाभ का वैदिक स्वर्गादि पदार्थों से क्या भेद है । जब आत्मा का महत्व प्रतीत हो जायगा तब आत्मतत्व को प्राप्त करने में तत्पर हो जावोगे ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

मधुसूदनी

भगवान् स्वयं विचारदिशं दर्शयति—अल्प जलाशये कूपे यावानर्थः प्रयोजनं साधयितुं शक्यते तावान् ततोप्यधिकश्च प्रयोजनं सर्वतः संप्लुतोदके जलाशयेऽपि लब्धुं शक्यम्। सम्पूर्णवेदप्रतिपाद्यस्वर्गादिरूपाल्प जलाशयस्थानीयभोगभूमिषु यावान् सुखविशेषो मिलति तावान् सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीयः सुखराशिः परमवेदार्थः परमात्मा मिलत्येव ॥४६॥

बालक्रीड़ा

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा के महत्व की प्रतीति हो जाने पर आत्मा की प्राप्ति में जब योगी लग जायगा तब कर्मकाण्डात्मक वेद से प्राप्त होनेवाले भौतिक आनन्दों से वह वञ्चित रह जायगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि सुनो और समझो। मान लो दो जलाशय हैं उनमें एक छोटा उदपान वापी कूप तडागादि है दूसरा बड़ा सर्वतः सम्प्लुतोदक है। इन में से उदपान में जितना कार्य किसी भी व्यक्ति का हो सकता है उतना कार्य पूर्ण रूप से भरे हुए जलाशय में भी जैसे हो सकता है वैसे ही जितना प्रयोजन ब्राह्मण का कर्मकाण्डात्मक वेद भाग से सिद्ध होगा उतना प्रयोजन ज्ञानकाण्डात्मक वेद भाग से भी सिद्ध हो जायगा क्योंकि वह ब्राह्मण है जो (ब्रह्म अणति भणति) ब्रह्म को कहता है। अतः उस को अवश्य प्रयोजन प्राप्त होगा। यहाँ का आशय यह है कि विचार का दिग्दर्शन भगवान स्वयं दिखाते हैं जैसे जल का जितना प्रयोजन छोटे जलाशयों वापीकूप तडागादि में हो सकता है उतना ही प्रयोजन सर्वतः संप्लुतोदक बड़े जलाशय में भी हो सकता है वैसे ही सम्पूर्ण वेदों के कर्मों से जनित स्वर्गादि छोटे जलाशय स्थानीय भोग भूमियों में जो सुखमात्रा मिलती है वह सर्वतः संप्लुतोदक स्थानीय सुखराशि परमात्मा जो परमवेदार्थ है उसमें भी मिलता है ॥४६॥

हे अर्जुन! इसके सिवाय यह भी बात है कि "हम यह नहीं जानते हैं कि हम में से कौन गरीयान् हैं अतः हम जीतेंगें या वे ही हमको जीतेंगे" इत्यादि रूप से तुम फल की गवेषणा क्यों करते हो। तुम्हारा कर्म में ही अधिकार हैं। फल में नहीं। यहाँ "कदाचन माफलेषु"

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

मधुसूदनी

हे अर्जुन! तव कर्मण्येव अर्थात् कर्मकर्त्तुमेव अधिकारः। फलविषये नाधिकारः। अतः कदापि फलवासना न करणीया। कर्मसम्भूतानि फलानि तत्कर्मकर्त्तारि उपतिष्ठन्ते एतद्विचारेण कर्मफलानां हेतुर्मा भूः। अथ च निष्फलकर्मणां करणेन किमपि प्रयोजनं न सिध्यति इति अकर्मणि कर्माभावेऽपि सङ्गं मा कुरु। अर्थात् निष्कामनया कर्मणामनुष्ठानं कुरु ॥४७॥

बालक्रीड़ा

इस तरह माशब्द का फल के साथ समास करके (मायाः लक्ष्याः फलेषु कदाचन कस्मिंश्चित् काले ते अधिकारः) मा लक्ष्मी के फल की वासना किसी काल में करनी चाहिए। क्योंकि फल राज्यादि के पाने का भी कभी २ अधिकार है। प्रश्न-कर्म करने से ही फल मिलता है विना कर्म किये फल नहीं मिलता है। मैंने कर्म किया है अतः उसका फल मुझे अवश्य मिलना चाहिये क्योंकि मेरा उस पर अधिकार है। उत्तर। तुमने कर्म किया है अतः उस के फल के पाने की योग्यता तुम्हारे में हो गई। किन्तु उस फल के पाये विना उस फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। क्योंकि अधिकार का अर्थ है फल स्वामित्व। वह स्वामित्व फलदाता का है अतः फल देने वाला जब तुमको फल देगा तब तुम्हारा अधिकार उस फल पर होगा। अन्यथा नहीं। यह मा फलेषु कदाचन का रहस्य है।

कर्म से होने वाले फल उन कर्मों के कर्त्ता को अवश्य ही मिलेंगे ऐसे विचार से इस भावना से कर्म फलों के हेतु यानी कर्त्ता मत बनो कर्म के करने से क्या होगा ऐसी भावना से अकर्म में कर्म के त्याग में कर्म नहीं करने में भी सङ्ग मत करो अर्थात् निष्काम कर्मानुष्ठान करो। इस से "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" इसका समाधान भगवान ने किया है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

मधुसूदनी

फलदाता परमेश्वरः स यदा "कर्मणः फलमस्ती"ति सिद्धान्तात् फलं तत्कर्त्तार प्रापयति तदा तस्य तस्मिन् फलेऽधिकारोऽतः फलप्राप्ति विना तस्मिन् फले कस्याप्यधिकारो नास्ति। आम्। तत्फलप्रापकचेष्टारूप कर्मणि सर्वस्याप्यधिकारः। अतो व्याख्यायते कदाचन फलप्राप्तेरुत्तर माफलेष्वपि अधिकारः। माया लक्ष्म्या फलेषु धनधान्यादिषु। अयं षष्ठी तत्पुरुषः। अथवा मालक्ष्मीः तद्रूपेषु धनधान्यादिषु। अयं कर्मधारयः समासः। एष एव प्रकृतोपयोगी।

कदाऽपि फलवासनया कर्म न करणीयम्। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुतम्" इति सिद्धान्तात् कृतस्य कर्मणः फलमवश्यं कर्त्तारमुपतिष्ठते इति बुद्धया कर्मजनितफलानां हेतुर्मा भूः। बहु वा बहुवारं वा कर्म कृतं न किमपि लब्धमतः कर्मकरणे प्रयोजनं नास्तीति भावनया अकर्मणि कर्मानिनुष्ठाते सङ्गो मास्तु। अर्थात् निष्कामकर्मानुष्ठानं कुरु। अत्र न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः इति कथयित्वा विरतोऽर्जुनः भगवता समाहितः। "कतरन्नो गरीयः" इत्यत्र वयपदस्यार्था अर्जुनादयः पुरुषः पुंल्लिङ्गा अतः "कतरत्" "गरीयः" इत्यनयोः क्लीवत्वमसत्ततः कतरो नौ गरीयानिति पाठः साधुः ॥४८॥

बालक्रीड़ा

यहां वयं न विद्मः यह अर्जुन कहता है कि हम नहीं समझते हैं कौरव पाण्डवों में से कौन श्रेष्ठ है। इस प्रकार कौरव भी पुल्लिङ्ग पुरुष हैं और पाण्डव भी पुरुष हैं पुल्लिङ्ग है अतः यहाँ कतरो नो गरीयान् ऐसा पुल्लिङ्ग पाठ होना चाहिए न कि नपुंसक कतरत् और गरीयः। अतः निर्माणगत दोष है अशुद्धि है ॥४७॥

हे धनञ्जय ! हे योग्य वस्तु के उत्कर्ष की प्राप्ति करने वाले ! वक्ष्यमाण रीति से योग में स्थित हुए सङ्ग आसक्ति को त्याग कर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर अर्थात् सिद्धि में सफलता में हर्ष या गर्व और असिद्धि में विफलता में दुःख या हीनभाव न करो कर्म करो। क्योंकि सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव ही योग है ॥४८॥

बालक्रीड़ा

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनञ्जय ! वर्ण एवं आश्रम के अनुसार किये जाने वाले श्रौत एवं स्मार्त दो प्रकार के कर्म बुद्धियोग से दूर अवर हैं बहुत छोटे हैं। इस लिए तुम बुद्धि में शरण की रक्षक की भावना करो परमात्मा को अनुकूल करना चाहो। अजी साहब आपने पहले बतलाया है कि सङ्ग को छोड़ कर कर्मों को करो और अब कहते हैं कि कर्म बुद्धि की अपेक्षा तुच्छ हैं। इस पर कहते हैं कि फल के हेतु फल की प्रार्थना करने वाले ही स्वय कृपण हैं दीन हैं अर्थात् कर्म फलाकांक्षा करने वालों का दीन होना कर्म ही के बदौलत है। भला जिसके बदौलत शुद्ध बुद्ध जीवात्मा दीन हो जाता है तब कल्पना करिये कि वह कर्म कितना तुच्छ है। क्योंकि अपने किये कर्मों का फल मिलेगा ऐसी वासना वाले व्यक्ति फल हेतु कहाते हैं ये फल कामी वेचारे दीन कृपण होते हैं। उनका जीवन परमुखापेक्षी होता है। अतः कर्म अत्यन्त ही तुच्छ है।

यहाँ यह बतलाना जरुरी है कि एक स्वाभाविक कर्म होते हैं और दूसरे शास्त्र विहित कर्म होते हैं। इन में शास्त्रीय कर्म स्वाभाविक कर्म के निर्वर्त्तक होते हैं। वे शास्त्रीय कर्म भी दो प्रकार के हैं एक वर्ण धर्म दूसरे आश्रम धर्म। उन में वर्ण धर्म जैसे शम अन्तःकरण की शान्ति। दम बाह्य इन्द्रियो का दमन। तप विहित सन्ध्यादि आह्निक कर्म करना शौच बाह्य एवं आभ्यन्तर शुद्धि। संतोष यथा लाभ से स्वतः मिले हुए से अधिक के लिए विह्वल नहीं होना चेष्टा नहीं करना। क्षमा अपराध को सहना भूलना। आर्जव कोमलता यानी वक्रता का त्याग। भगवद्भक्ति परमात्मा में प्रेम। दया दूसरे के दुःख को दूर करने की चेष्टा। और सत्य यथार्थ यानी कमी एवं वेशी के द्वारा वस्तु के स्वरूप से अनतिक्रमण। ये ब्राह्मण वर्ण के स्व भाविक कर्म हैं।

तेज प्रभाव। बल शारीरिक शक्ति। धृति कर्त्तव्य से नहीं गिरना। शौर्य युद्ध में उत्साह। तितिक्षा सुख दुःख, शीत उष्ण, जय पराजय, हानि लाभ आदि द्वन्द्वों का सहना। औदार्य वदान्यता एवं महत्ता।

बालक्रीड़ा

उद्यम निरन्तर नित्य नया व्यवसाय करना। स्थैर्य अपने स्वरूप से नहीं टलना प्रतिज्ञात से नहीं हटना। ब्रह्मण्यता ब्रह्म का अणन भणन करने वाले ब्राह्मणों में भक्ति करना ब्राह्मणों का आदर करना। ये क्षत्रिय जाति के स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि हल के द्वारा भूमि में अन्न को पैदा करना। गोरक्षा करना। आस्तिक्य परलोक को मानना। दान पात्र में धनका त्याग करना। अदम्भ दिखाऊ धर्म नहीं करना। ब्रह्म सेवन ब्राह्मणों की भक्ति करना। और वाणिज्य अर्थोपचयन धन के पैदा करने में संतोष नहीं करना ये वैश्य वर्ण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शुश्रूषा तीनों वर्णों की सेवा करना। कपट छोड़कर देवादि मन्दिरों को झाड़ना बुहारना साफ करना। तीनों वर्णों की सेवा करने से जो मिल जाय उस में सन्तोष करना। ये शूद्र वर्ण के स्वाभाविक कर्म हैं।

सर्व अशुद्ध सदा गन्दा रहना। झूठ बोलना। चोरी करना। परलोक को नहीं मानना। विना प्रयोजन वैर करना। कामी होना। क्रोध करना। तृष्णा बढ़ाना ये वर्णसंकरों के स्वाभाविक कर्म हैं।

आश्रम धर्म जैसे ब्रह्मचारी का समाधि करना। गृहस्थ का चातुर्होत्र करना। वानप्रस्थ का तप करना। संन्यासी का ब्रह्मसद्भाव को सिद्ध करना एवं ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करना। इनमें ब्रह्मसद्भाव दो प्रकार का है। उनमें एक परमात्मा का स्वरूप असङ्ग है ऐसा समझकर ब्रह्म से अन्य वस्तु मात्र को असत्य समझकर त्याग करना है। दूसरा परमात्मा के कीर्त्तन एवं चिन्तनादि में रत होकर स्वधर्म पालन में वस्तु स्वरूप के लाभ से अवस्तु का स्वतः छूट जाना। इन दोनों में पहला सांख्य है और दूसरा योग है। इस योग में पूर्वापर के क्रम के भङ्ग को दोष नहीं कहा है बताया है। जैसे—भोजन करने वाला पहले किस वस्तु को खाय इस नियम की अपेक्षा नहीं करता है क्षुधा को मिटाता है। ऐसे ही योगी प्रेम से परमात्मा के स्वरूप को लाभ करता है यही बुद्धि योग को शरण करना बतलाया है ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

बालक्रीड़ा

यहाँ योग मार्ग में बुद्धियुक्त मनुष्य सुकृत और दुष्कृत दोनों का त्याग कर देता है। इसलिए तुम योग में युक्त हो जावो लग जावो। प्रश्न-अच्छा योग क्या है। उत्तर कर्मों में कौशल ही योग है। अर्थात् सुनी हुई बातों से कर्म किया भी जाय और वह वन्धरूप भी नहीं हो। इस तरह से कर्म के करने में जो कुशलता है उसका नाम योग है ॥५०॥

विचारशील बुद्धि युक्त पुरुष कर्म जन्य फलों का त्याग करके जन्म मरण के बन्धन से निर्मुक्त हुए पुनरागमन रहित पद को प्राप्त करते हैं ॥ ५१ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दोष का त्याग करेगी तब तुमको श्रोतव्य एव श्रुत कर्मों के फलों से वैराग्य प्राप्त होवेगा ॥५२॥

नाना श्रुतियों से, सुनी हुई बातों से विप्रतिपन्न हुई विरुद्ध कोटियों में ग्रस्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल यानी लय एवं विक्षेप से रहित होगी और समाधि में अचल होकर स्थित होगी तब तुम योग को प्राप्त करोगे ॥ ५३ ॥

अर्जुन कहते हैं कि योग को प्राप्त करने के लिए समाधि में स्थित बुद्धि होना मूल है अतः हे केशव ! कृपा करके यह बतलाइये कि समाधि में स्थित निश्चय बुद्धि वाले पुरुष की क्या भाषा है अर्थात् स्थितप्रज्ञ कैसे कहाता है उसका क्या लक्षण है। वह क्या बोलता है कैसे बैठता है और कैसे चलता है ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

बालक्रीड़ा

श्री भगवान् बोले हे अर्जुन ! जब मन में उठने वाली काम वासनाओं को रोक लेता है उनका त्याग कर देता है आत्मा के विचार से आत्मा में सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थित प्रज्ञ कहाता है ॥५५॥

काम के त्याग का प्रकार दिखाते हैं। जो दुःख प्राप्ति के समय अनुद्विग्न मना है यानी मन में विचलितता नहीं होने देता है और सुख में अभिलाषा नहीं करता है तथा जिसके मन में प्रीति भय एवं क्रोध का संचार कभी नहीं होता है वह स्थितधी मुनि स्थितप्रज्ञ कहाता है ॥ ५६ ॥

जो सब में अनभिस्नेह है प्रीति नहीं करता है और उन उन शुभ एवं अशुभ में द्वेष नहीं करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहाता है ॥५७॥

अब क्रमशः ! "किं प्रभाषेत, किमासीत, किं व्रजेत" इन तीन वाक्यों की व्याख्या करते हैं। उनमें पहले किं प्रभाषेत की व्याख्या जैसे कछुआ चारों तरफ से अपने अंगों को सिकोड़ लेता है उसी तरह जब योगी इन्द्रियों से जिनका सम्पर्क हो सकता है उन विषयों से इन्द्रियों को रोक लेता है तब उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों को जीतने से मन के ऊपर विजय होता है मन जीता जाता है और मन के जीत लेने से प्रज्ञा स्थिर हो जाता है। उन इन्द्रियों में पहली वाणी है। अतः वाणी के जीतने से सब इन्द्रियों के व्यापार कम हो जाते हैं। अतः योगी को चाहिए कि वह कम बोला करे। यह (किं प्रभाषेत) योगी कैसा बोला करे इसका उत्तर होगया ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।
यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

बालक्रीड़ा

अब (किमासीत) योगी कैसे बैठा करे का उत्तर देते हैं । निराहारस्य पद में आहार शब्द का अर्थ है इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करना । यह ग्रहण तभी होता है जब पुरुष का उन विषयों के साथ सम्बन्ध होता है । वह सम्बन्ध भी तभी होता है जब पुरुष इन विषयों का चिन्तन करता है । यदि पुरुष इन विषयों का चिन्तन नहीं करे तो इन्द्रियाँ उन विषयों का ग्रहण नहीं कर सकेंगी । ऐसी अवस्था में देही निराहार हो जायगा । क्योंकि विषयों से इन्द्रियों का सम्पर्क होता था उनको फिर इन्द्रियाँ मन को देती थी वह मन उस देही के लिए संयोग करता था । जब देही निराहार हो गया तब रसको वर्ज करके इसको छोड़कर सभी विषय देही से अलग हो जाते हैं । रहा राग वह भी परमात्मा के दर्शन करने के बाद निवृत्त हो जाता है ।।५९।।

परमात्मा के दर्शन करने में इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होना ही प्रतिबन्धक है क्योंकि ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि जो इनको अपने वश में करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है उस विवेकी पुरुष के भी मन को बलात् अपहरण कर लेती हैं । अर्थात् स्वच्छ मन को भी गन्दा कर देती हैं जिसके फलस्वरूप जबरन् वह पुरुष विषय सुख में आसक्त हो जाता है । जैसा कि कहा है बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ये इन्द्रियाँ इतनी प्रबल है कि जानकार पुरुष को भी पथभ्रष्ट कर देती हैं ।।६ ।।

अतः जो पुरुष ध्यान एवं धारणा के द्वारा उक्त सब इन्द्रियों का संयमन करके निरोध करके मत्पर हुआ मैं वासुदेव ही जिसका पर हूँ प्रधान हूँ अथवा जो मुझ वासुदेव के ही पर है अधीन है अर्थात् मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई रे की तरह वासुदेव से अन्य मेरा कोई नहीं है ऐसी भावना से युक्त योग में लगा हुआ यानी समाधि में स्थित

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

बालक्रीड़ा

उपासना करता है और इस उपासना के बल से जिसकी इन्द्रियां वश में है उसकी प्रज्ञा उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है अचल है ।।६१।।

अब व्रजेत किम् का उत्तर देते हैं कि जो पुरुष इन विषयों का ध्यान करता है चिन्तन करता है उस पुरुप की उन विषयों में प्रीति हो जाती है सङ्ग हो जाता है और सङ्ग हो जाने से प्रीति हो जाने से उन विषयों को प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है। किन्तु जब वे विषय नहीं मिलते हैं यानी इच्छा पूर्ण नहीं होती है तब उस पुरुष को क्रोध उत्पन्न हो जाता है ।।६२।।

क्रोध से सम्मोह हो जाता है यानी कार्तव्य एवं अकर्तव्य के विषयका विवेक नष्ट हो जाता है विचारशक्ति तिरस्कृत हो जाती है। विवेक के नहीं रहने से सम्मोह के हो जाने से स्मृति का विभ्रम हो जाता है यानी शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से बने हुए संस्कार से उत्पन्न होने वाली स्मृति का भ्रंश हो जाता है। स्मृति के नाश हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट हो जाने से योगी का सर्वनाश हो जाता है अर्थात् ससार में पतन हो जाता है ।।६३।।

जिसका आत्मा अन्तःकरण विधेय हैं वश में हैं वह योगी राग और द्वेष से रहित अतएव स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करता हुआ भी प्रसाद को प्रसन्नता को प्राप्त करता है अर्थात् उस योगी का मन प्रसन्न रहता है। इसका स्पष्टीकरण यों है कि इन्द्रियाँ आत्मा की उपकरण है परमात्मा के उपभोगार्थं प्रवृत्त होती है अतः उनसे राग एवं द्वेष को हटाकर शास्त्र बोधित प्रकार से आत्मवश्य इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता हुआ विधेयात्मा योगी प्रसाद को बुद्धि की शुद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।६४।।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् । ६६।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

बालक्रीड़ा

अब प्रसाद के प्राप्त करलेने पर क्या होता है उसको कहते हैं--प्रसाद होने पर प्रसन्नता को प्राप्त कर लेने पर इस योगी के सब दुःखों की यानी आध्यात्मिक, आधिभौतिक एव आधिदैविक दुःखों की हानि हो जाती है। उनमें आध्यात्मिक दुख जन्म जरा एवं मरण तथा उनके मूल में आने वाले वात पित्त एवं कफ से होने वाले विकार। आधिभौतिक दुःख भूतों की परस्पर में वध्यघातक भाव के कारण किये गये शस्त्र प्रहारादि जनित पीड़ाएँ। आधिदैविक दुख वायु घाम एवं वृष्टि से एवं उनमें रुकावट पड़ने पर होने वाले क्लेश। प्रसाद का यह एक फल है। इसका दूसरा फल है कि प्रसन्न चित्त होने पर इस योगी की बुद्धि शीघ्र ही पर्यवस्थित हो जाती है अर्थात् आत्मस्वरूप में निश्चल हो जाती है ।।६५।।

जो योग नहीं करता है उसकी शास्त्रीय बुद्धि नहीं होती है। और न उसको भावना यानी परमात्मा में प्रीति होती है। जो भावना नहीं करता है उसको शान्ति नहीं होती है क्योंकि विषयों की तृष्णा मिटने के बजाय बराबर बढ़ती रहती है। अर्थात् वह अशान्त बना रहता है अतः जब वह अशान्त है तब उसको सुख कहाँ हो सकता है। यानी विषयों में तृष्णा रखने वाले को कभी सुख नहीं होता है ।।६६।।

जिसका मन इधर उधर दौड़ने वाली इन्द्रियों के पीछे स्वतन्त्र होकर विचरण करता है। उसका वह स्वच्छन्दचारित्व वायु जैसे नौका को जल में डुबो देता है वैसे ही उस योगी को सांसारिक विषयों में प्रवृत्त करके उसकी प्रज्ञा का हरण कर लेता है। अर्थात् उसको डुबा देता है ।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

मधुसूदनी

या निशेति। अत्र द्वे निशे प्रकीर्तिते। एक सर्वभूतानां निशा या संयमिनो जागरायाः सद्भावाज् ज्योतिष्मती। द्वितीया परमार्थतत्वं पश्यतो मुनेः निशा या सर्वभूतानां जागरणात् तमिस्रा। यो यस्यां न व्यवहर्त्तुं शक्नोति सा तस्य रात्रिरेव। एवंभूतस्य लोकस्य मुनेश्च भिन्ना २ निशा। उक्ता ॥६९॥

इति श्रीमधुसूदनशास्त्रिणः कृतौ श्रीभगवद्गीतामधुसूदन्यां द्वितीयोऽध्यायः समाप्त्।

प्राभूत रामो विदुषां वरेण्यो वक्तावरी मा मधुसूदनं यम्
महात्मनस्तस्य कृतौ व्यरंसीद्वार्त्तद्वितीये मधुसूदनीयम्।

बालक्रीड़ा

इस कारण हे महाबाहो! जिस योगी की इन्द्रियां सभी तरफ से निगृहीत होती हैं अर्थात् सब तरह के विषयों से हट कर अपने वश में रहती है उस योगी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ।६८॥

जो सम्पूर्ण भूतों की निशा है जिसमें प्राणीमात्र सोये हुए हैं। जो आत्मा का आलोक है। उसमें संयमी इन्द्रियों को वश में करने वाला जागता है अर्थात् उस आत्म तत्त्व को देखता है। जिस अन्धतम रूप अज्ञान में सब भूत जागते हैं वह मननशील अत एव परमार्थ तत्त्व के जानकार की निशा है। अर्थात् उसमें अविद्या के काम कर्म का व्यवहार नहीं करता है। जिसमें जो व्यवहार नहीं करता है वह उसकी निशा है। जो जिसमें व्यवहार करता है वह उसमें जागता है। सब प्राणियों को दोनों का ही स्पष्ट भान नहीं होता है इसलिये दोनों ही निशाएँ बतलाई है। एक ज्योतिष्मती है चाँदनी रात है दूसरी तमिस्र है अन्धेरी रात है ॥६९॥

जो अपने स्वभाव से आपूर्यमाण है भरा हुआ है और जिसकी स्थिति प्रतिष्ठा अचल है नदि ... अर्थात् बाहरी

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निः स्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः

बालक्रीड़ा

जल के आजाने से न जिसमें वृद्धि होती है और उस जल के निकल जाने से न जिसमें ह्रास होता है ऐसे समुद्र में जैसे जल अन्तविलीन होते हैं वैसे ही जिस पुरुष में सम्पूर्ण कामनाएं अन्तर्लीन हो जाती है अर्थात् उन कामनाओं के पूर्ण होने या नहीं होने से जिसमें कोई भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है वह योगी पुरुष शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु जो तो कामनाओं को पूर्ण करना चाहता है पूर्ण होने पर सुख की अनभूति करता है और न पूर्ण होने पर दुःखका अनुभव करता है वह कामकामी कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता है ॥७०॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं के फलों को त्यागकर निरहंकार अहंकार भाव से रहित, निर्मम देह एवं देह के धर्म कर्म एवं अवस्था आदि से जिसकी ममता निकल चुकी है एवं निस्पृह हो गया है सर्वविध आशाओं की वासना से या कामना से शून्य है. वह पुरुष शान्ति को प्राप्त करता है ॥७१॥

हे पृथा के पुत्र अर्जुन ! यह जो स्वधर्म पालन पूर्वक परमात्मा का श्रवण कीर्त्तन चिन्तन है वह ब्राह्मी स्थिति कहलाती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में बुद्धि की स्थिति योग है। इस योग में यदि वह अनादि भ्रम के अन्त काल में अर्थात् उस भ्रम के विनाश के काल में स्थित हो जावे तो ब्रह्म निर्वाण में ब्रह्मानन्द में मग्न हो जावेगा अर्थात् जन्म जरा मरण परम्परारूप संसार के बन्धन से रहित होकर सुख समुद्र में मग्न हो जायगा।

इस प्रकार गीता के द्वितीय अध्याय में श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति हिन्दी टीका बालक्रीड़ा सम्पूर्ण हुई।

अथ द्वितीयाध्यायस्य समीक्षा

मधुसूदनी

मात्राः शब्दादितन्मात्राणि तत्कार्यत्वाच्छब्दस्पर्शादयो विषया अपि मात्राशब्द-वाच्याः। इति तत्त्वप्रकाशिका।

मीयन्ते आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि तासां स्पर्शाः विषयैः सम्बन्धाः। तत्तद्विषयाकारान्तकरण परिणामा वा। इति मधुसूदनी।

'चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैः सामान्येन मीयन्ते इति मात्राः। वागाद्युभयेन्द्रियैः स्पृश्यन्ते गृह्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादयो भोग्यपदार्थाः। इति शङ्करानन्दी।

मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिरिति मात्रा इन्द्रियवृत्तयः तासां स्पर्शाः विषयैः सम्बन्धाः। इति श्रीधरी।

सदानन्दी श्लोकबद्धा। 'मीयन्ते विषया आभिर्मात्रा स्युरिन्द्रियाणि ताः' यासां स्पर्शास्तु विषयैः सम्बन्धाः क्षणभङ्गुराः। परिणामा धियः सर्वे तत्तदा-कारवृत्तयः। इति।

मीयन्ते आभिर्विषयाः इति मात्रा इन्द्रियाणि। तेषां विषयैः सह स्पर्शाः सम्बन्धाः संयोगाः। यद्वा स्पृश्यन्ते इति स्पर्शा विषयाः। मात्राश्च स्पर्शाश्च ते। मात्रा इन्द्रियाणि। स्पर्शा विषयाः। इति भाष्योत्कर्षदीपिका।

मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिरिति मात्रा इन्द्रियवृत्तयः तासां स्पर्शा विषयैः सह सम्बन्धाः इति परमार्थप्रपा।

मीयन्ते इति मात्राः। कर्मणि त्र प्रत्ययः। स्त्रीत्वं शब्दस्वाभाव्यात् ज्ञानविषयाः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः। तेषां स्पर्शाः सम्बन्धाः इति अर्थसंग्रहाख्या राघवेन्द्रकृता टीका।

मात्रा आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि। मात्राणां स्पर्शाः शब्दादयः। मात्राश्च स्पर्शाश्च इति शाङ्करभाष्यम्।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः साश्रयाः। तन्मात्रकार्यत्वान्मात्रा इत्युच्यन्ते। श्रोत्रादिभिस्तेषां स्पर्शा इति रामानुजभाष्यम्।

मीयन्ते इति मात्रा विषयाः। तेषां स्पर्शा सम्बन्धा इति माध्वभाष्यम्।

मीयन्ते विषया यैरिति मात्रा इन्द्रियाणि इति व्याख्यानमसत्। पुराणादौ मात्राशब्दस्य विषये रूढवादित्याशयवान् व्याचष्टे मीयन्ते इति। ननु गन्धरस-रूपस्पर्शशब्दा विषयाः। अतो मात्रास्पर्शशब्दयोः, भिन्नपदत्वे अथवा तयोर्द्वन्द्वे स्पर्शानां विषयान्तर्गतानां पुनरुक्तिर्व्यर्था। पुनरुक्तिः स्वयं दोषः। पुनरुक्तिरपि कमप्या-शयमनुरुध्य वर्त्तन्ती सार्थिकाऽपि नातो व्यर्था। इत्यत आह तेषामिति। विषयाणाम्। तथाप्यनुपपत्तिः विषयाणां शब्दादीनां त्वचा स्पर्शाभावादित्यत आह— सम्बन्धा इति जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका।

मात्रा प्रमात्रा सह स्पर्शा विषयेन्द्रिसम्बन्धा इति नीलकण्ठः।

प्रमायते जानाति विश्वमिति प्रमाता। प्रमाता एवं माता। विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्य इयि वार्तिकेण प्रस्य लोपः। एवं मा धातोस्तृच् प्रत्ययेन निष्पन्नमातृशब्दस्य तृतीयाविभक्तौ मात्रा इति पृथक् पदम् स्पर्शा इति च पृथक। तेन मात्रा सह मनिन्द्रियविषय सम्बन्धाः। मा धातुरकर्मकः। प्रोपसर्गवशात्स-कर्मकः। प्रोपसर्गस्य अदृष्टेः कारणं लोपः। मनिन्द्रियेति मनीषावत् शकन्ध्वादित्वान् पररूपम्। अत्र मात्राशब्दस्य व्याख्यानं सर्वैराचार्यैः मीयन्ते विषया ज्ञायन्ते विषया इत्येव कृतम्। परं मा धातुरकर्मकः। तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्या-गमसम्भवाः मुदः। मुदस्तनौ न ममुरित्येवमकर्मकः प्रयोगः। उदरं परिमाति मुष्टिना इति सोपसर्गस्य सकर्मकः प्रयोगः। तेन कथं तद् व्याख्यानमिति। अथवा सर्वेषां तथा व्याख्यानाद्बहूनामनुरोधो न्याय्य इति दिशा समकर्मकोऽप्ययं मा धातुरिति बोध्यम्।

> अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्
> पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।

अत्र स्वबलस्य परोक्षार्थकेन तत्पदेन, परबलस्य प्रत्यक्षार्थकेन इदं पदेन, तथा एकविंशतिवारनिः क्षत्रियकारिजामदग्न्यपराजेत्रा युद्धविद्याकुशलेन भीष्मेणाभिरक्षितस्य स्वबलस्य अपर्याप्ततया तदकुशलभीमाभिरक्षितस्य परबलस्य पर्याप्ततया किं दर्शे '‚सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !" इति वक्तुर्महाभिमानिनो दुर्योधनस्या-भिप्रायो विचारणीयः समीक्षणीयः।

> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

इत्यत्र निर्दिष्टा अच्छेद्यत्वादिसनातनत्वान्ता नव धर्माः छायायामपि जाघटन्ति। छायामपि शस्त्राणि न छिन्दन्ति, पावको न दहति, आपो न क्लेदयन्ति, वायुः

वन्हिर्वा न शोपयति। तस्मादेवमृतामेनां छायां विदित्वा न त्वं शोचितुर्हसि इत्येवमपि वक्तव्यं स्यात्। किम् समीक्षणीयम्।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। इत्यत्र मूलं प्रकृतिरिति सांख्यकारिका। तस्यार्थः प्रकृतिः विश्वस्य कार्यकारणसंघातस्य मूलं कारणम्। इति। तेन प्रकृतिः कर्त्रीति सिद्धान्तः। तथा च प्रकृत्या क्रियमाणानि इत्यनुक्त्वा प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि इत्युक्त्वा सिद्धान्तहानिं न प्रकुरुते वा गीताचार्यः।

"अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।" इत्येवमत्र पूर्वत्र "अहं कारविमूढात्मा" इति, तदुत्तरऽत्र श्लोके

"प्रकृतेर्गुणसंमूढा, सज्जन्ते गुणकर्मसु"

इत्यत्र "गुणसंमूढा" इत्युच्यते। तन्मोहं निवर्तयितुं प्रवृत्तस्य भगवतो मोहिनी कोक्तिः। तत्रापि वि उपसृज्यते एकत्र, "सम्" उपसृज्यते परत्र कोऽनयोर्भेदे भावः। तत्रापि विमूढ आत्मा चित्तं वा स्वरूपं वा कोऽभिप्रायः।

"गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते"

इत्यत्र के गुणाः केषु गुणेषु वर्त्तन्ते। इति वर्त्तनाश्रया गुणाः के वर्त्तना-श्रयिणो गुणाः के। यदि सत्वरजस्तमांसि त्रय एव गुणाः। तर्दि स्वेषु स्वेषां वर्त्तनमसम्भवि। नहि सुनिपुणोऽपि पुमान् स्वस्कन्धमधिरोढुमीष्टे। यदि त्रिषु एषु एकस्मिन् एकस्य द्वयोर्वा। द्वयोर्वा एकस्य द्वयोर्वा वर्त्तनम्। तर्दि अपि गुणा गुणेषु इत्येवमुभयत्र बहुवचनं कथम्। अन्यच्च गुणे गुणानङ्गीकारसिद्धान्तो भज्येत न वा।

द्वितीय अध्याय की समीक्षा

बालक्रीड़ा

(१) किसी का यह कहना कि "तथा देहान्तरप्राप्तिः" इस १३वें श्लोक में जो भिन्न देह की प्राप्ति की बात बतलायी है वही बात "तथा शरीराणि" इस २२वें श्लोक में भी बतलायी है। अतः पुनरुक्ति हो गई है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि १३वें श्लोक का भाव है कि जैसे कालक्रम से देह में कौमार यौवन एवं जरा अवस्थायें स्वतः प्राप्त होती है। यहाँ जीव की परवशता बतलायी है। २२वें श्लोक का भाव है कि जो व्यक्ति आत्मा को अज अव्यय एवं शाश्वत समझ लेता है अर्थात् जिसे आत्मज्ञान हो जाता है उसके लिए मरने मारने एवं मरवाने की प्रसक्ति ही नहीं होती है। अतः शरीरान्तर धारण करने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता है। क्योंकि वह मुक्त हो गया है स्वतन्त्र हो गया है अतएव यहाँ गृह्णाति पद को लिखा है। ४ अध्याय ९वें श्लोक में (त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति) यही लिखा है।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समकक्षता होती है। पुराने वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र के धारण करने में मनुष्य की इच्छा ही प्रधान है। क्योंकि इस अंश में वह किसी के आदेश की परवाह नहीं करता है। उसे जरूरत भी नहीं है अतः स्वतन्त्रता से पहिरता है। यही स्थिति दार्ष्टान्तिक स्थल में भी हैं।

(२) मात्रा स्पर्शाः इसमें इन दो शब्दों के भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, लिखे हैं। किसीने मात्रा शब्द का इन्द्रियाँ अर्थ लिखा है, तो किसी ने इन्द्रियों की वृत्तियां लिखा है। किसीने कहा है कि मात्रा शब्द का तन्मात्रा अर्थ है। शब्दतन्मात्रा सूक्ष्माकाश रूपतन्मात्रा सूक्ष्म तेज इत्यादि। परन्तु लक्षणा से मात्रा शब्द का शब्दादिरूप विषय अर्थ है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठाचार्य नें मात्रा को मातृशब्द का तृतीयान्तपद माना है।

ऐसे ही स्पर्शशब्द का भी किसीने विषय अर्थ लिखा है और किसीने सम्बन्ध अर्थ लिखा है। स्वयं ग्रन्थकार नें भी बाह्य स्पर्शेषु ५।२१ ये हि संस्पर्शजान् ५।२२ स्पर्शान् कृत्वा ५।२७ इन श्लोकों में इन दोनों ही अर्थों को माना है।

प्रकृत में मात्रा का प्रमात्रा अर्थ है। "विनापि प्रयत्यं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः" से प्र का लोप हो गया है। स्पर्शाः का अर्थ है। मन इन्द्रिय एवं विषयों का सम्बन्ध ऐसा अर्थ मानने पर ही अगले १५वें श्लोक की सङ्गति होती है अन्यथा नहीं। वह कैसे है सुनिये—यहाँ १४वें श्लोक में और आगे ६ अध्याय के ७वें श्लोक में भी "शीतोष्णसुख-दुःख" पद आये हैं। दोनों जगहो में इन शीत एवं उष्ण पदों के शामक एवं तापक विषय अर्थ किये हैं।

प्रमाता—आत्मा के साथ जब मन इन्द्रियों एवं विषयों का सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। तभी वह पुरुष शामक-तापक विषयों को प्राप्त कर कभी सुखी या कभी दुःखी होता है। यानी सुख- दुःख के विषयों को प्राप्तकर विषम अवस्थावाला हो जाता है। अतः तुम वैसा मत वनो। क्योंकि जो सुख एवं दुःख में समान अवस्थावाला होता है वह धीर है। जैसा कि लिखा है। (विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः) विकार के कारणों के उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते हैं वे ही पुरुष धीर होते है। और जो धीर है वह अमृत हो जाता है आनन्दरूप हो जाता है। जैसा कि श्रुति ने लिखा है "आनन्दरूपं यदमृतं विभाति"।

(३) अच्छेद्योऽयम्। यहाँ आत्मा में अच्छेद्यत्वादि विशेषण दिये हैं। जिनका विशेष तात्पर्य यह हैं कि अर्जुन को जो भीष्मादि के मरने मारने एवं मरवाने की चिन्ता है वह व्यर्थ है क्योंकि जो अच्छेद्य है अशोष्य है अक्लेद्य है एवं अदाह्य है, उस के नष्ट होने का प्रसङ्ग ही नहीं उपस्थित हो सकता है तव मरने आदि की वात कैसी? इसपर हमारा कहना है कि जो वस्तु अच्छेद्य आदि है वह नष्ट भी होती हैं। जैसे छाया एवं कि ण। इनका छेदन दाहन क्लेदन एवं शोषण नहीं हो सकता है। छाया और किरणों को न कोई काट सकता है न जला सकता है, न गीला कर सकता है और न सुखा ही सकता हैं। परन्तु ये नष्ट हो जाते हैं प्रकाश के नहीं रहने पर नहीं रह पाते हैं। इसी तरह नित्य; सर्वगत; स्थाणु; अचल; एवं सनातन विशेषणों की भी यही हालत है जैसे नित्य ही पैदा होते हैं नित्य ही मरते हैं। ऐसा नित्य ही होता है यह तो नित्य की घटना है। इस कार्य को नित्य ही किया है नित्य करते थे अव भी नित्य करते है आगे भी नित्य ही करेंगे। इन जगहों में नित्य का अर्थ है प्रतिक्षण या प्रतिदिन इत्यादि। प्रकृत में छाया और किरण भी नित्य होते हैं। वे भी प्रतिदिन या प्रतिक्षण होते हैं। इसके वाद जो सर्वगतत्व विशेषण है वह छाया में भी है। वह

कौन-सा पदार्थ हैं जिसके ऊपर रोशनी पड़ने पर छाया नहीं होती है अतः छाया भी सर्वगत है। किरण में सर्वगतत्वादि नहीं हैं। छाया स्थाणु है स्थिर है। और हिलती भी है। छाया अचल है और चल भी है। जिसकी छाया है वह यदि स्थिर है तो छाया भी स्थिर है और चलता है तो चल भी है। जिसकी छाया है वह यदि हिलता तो छाया भी हिलती है। इस तरह जिसकी छाया है वह यदि अचल है तोछाया अचल है और चल है तो चल है। यहाँ इतनी बात और जान लेना चाहिए कि आत्मा "विनु पग चले सुने विनु काना" है तो छाया भी बिना पग के चलती है। छायावान् मनुष्य सुनने के लिये कान लगाता है तो छाया भी कान लगाती हुई दिखाई पड़ती है। छाया सनातन है सदा होती है। यह कोई नियम नहीं है कि जो सनातन है वह नष्ट नहीं होता है। क्योंकि इसी गीता में स्पष्ट लिखा है कि "कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।"

कुल के क्षय हो जाने पर कुल के सनातनधर्म नष्ट हो जाते हैं यदि सनातनधर्म नष्ट नहीं हो सकते होते तो उक्त श्लोक को कैसे लिखते । अतः अच्छेद्योऽयम् यह श्लोक आत्मा में ही संगत होता है यह बात नहीं हैं।

अव्यक्तोऽयम्। यहाँ आत्मा को अव्यक्त कहा है किन्तु "तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्" इस श्रुति के "जगृहे पौरुषं रूपम्" इस स्मृति के तथा अस्मत्प्रत्यय गोचरः इस भाष्य के अनुसार व्यक्त भी है अव्यक्त ही नहीं है। अजायमानो बहुधाभिजायते इस श्रुति एवं बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि। तदात्मानं सृजाम्यहम्। जन्म कर्म च मे दिव्यम् इत्यादि स्मृतियों से भी उक्त ही अर्थ सिद्ध हैं। अचिन्त्य शब्द का अर्थ है ध्येय नहीं है। क्योंकि चिन्ता और ध्यान एक ही पदार्थ है। ध्यै चिन्तायाम् इस पाणिनि के धातु पाठ से यही सिद्ध है। किन्तु आत्मा ध्येय है चिन्त्य है, आचार्यों ने समाधि के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना लिखा है "यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्" समाधि ध्यान का ही प्रकृष्ट रूपान्तर है अतः आत्मा को अव्यक्त एवं अचिन्त्य कहना बनता नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती नें लिखा है कि चिन्त्य का अर्थ अनुमेय है किन्तु यह उससे विलक्षण है। क्योंकि किसी जगह प्रत्यक्ष किया हुआ वह्न्यादि, व्याप्ति के आश्रय धूम के देखने से अनुमेय होता है किन्तु आत्मा तो अप्रत्यक्ष हैं अतः व्याप्तिग्रहण का होना असम्भव है इसलिए अनुमेय नहीं है। यह भी ठीक कैसे हो सकता है क्योंकि महान् पण्डित उदयनाचार्यजी नें इसको—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।

इस कुसुमाञ्जलि के ५ स्तबक की १ कारिका के द्वारा अनुमेय सिद्ध किया है।

सरस्वतीजी महाराजः "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतियों का श्रावणप्रत्यक्ष हुआ। शब्द और अर्थ का तादात्म्य है अतः आत्मा का भी प्रत्यक्ष हुआ। इस तरह प्रत्यक्ष हुए आत्मा का कार्यादि के द्वारा अनुमान होता है। और जो अनुमानगम्य है। वह अनुमेय है। अतः जिसका श्रावणप्रत्यक्षानुस्यूत ज्ञान हो रहा है वह आत्मा अनुमेय हैं। यदि जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वही प्रत्यक्ष हो तब तो आपका अब इस समय चक्षुषा प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है अतः आपके प्रत्यक्ष नही होने पर "मधुसूदनी" टीका आपकी बनाई हुई है इसका अनुमान कैसे करेंगे। अतः श्रावण प्रत्यक्ष के सहारे पर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव में भी अनुमान होता है इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर भी अनुमेय है। ईश्वर शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष श्रुतियों से होता ही है, हो रहा है।

(५) यामिमाम्···वाचम्। यहाँ ४२ वें ४३ वें श्लोकों में कहते हैं कि वेद के वाक्यों में रत वैदिक लोग कामात्मा हैं विषय लम्पट हैं एवं अविपश्चित् हैं विशेष को देखकर भी चेत नहीं करते हैं अर्थात् मूर्ख हैं अतः इनके अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका निश्चयस्वभावा बुद्धि का उदय नहीं होता हैं। आगे ४५ वें मे फिर कहते हैं वेद त्रैगुण्य विषय है यानी संसारी हैं संसार की बातें बतलाते हैं अतः तुम वेद का अध्ययन कर संसारी मत बनो अर्थात् वेद को छोड़ो। और भी आगे ५३वें श्लोक में कहते है कि "श्रुतिविप्रतिपन्ना है। तुम्हारी बुद्धि श्रुतियों से व्याकुल है विप्रतिपन्न है। इत्यादि वेद की निन्दा की है। जिससे साधारण जनता के भ्रम का हेतु वेद बन सकता है, हमारी समझ से व्यर्थही निन्दा की है इसका कोई प्रसङ्ग नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि कर्मकाण्डात्मक वेद संसार की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करता है। अतः उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड को विशेष रूप से समझोगे तब तुमको सफलता एवं निश्चायक बुद्धि प्राप्त होगी। इसी आशय से आगे ३ अध्याय में कहेंगे "यदक्षरं वेद विदो वदन्ति" वेदवित् लोग अक्षर ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं इत्यादि वेद की प्रशंसा करेंगे।

इत्यादि द्वितीयाध्याय की समीक्षा समाप्त हुई।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन !
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

बालक्रीड़ा

अर्जुन बोले हे जनार्दन ! हे भक्त जनों की याचनाओं को पूरण करने वाले ! यदि आप कर्म योग से बुद्धि योग को श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव ! हे कोमल, अतएव प्रशस्त केशों वाले ! हे श्रीकृष्ण ! क्यों मुझको घोर, अङ्गवैगुण्य के त्रास से युक्त विधि एवं निषेध के नियम से बँधे हुए कर्म-चक्र में प्रवृत्त करते हो । १ ।

व्यामिश्र वाक्य माने जिन वाक्यों के अर्थ परस्पर में भिन्न या एक वाक्य के अर्थ का दूसरे वाक्य के अर्थ से मेल नहीं बंठता है या उनमें आपस में विरोध है ऐसे वाक्य से मेरी बुद्धि को मुग्ध-सी क्यों करते हो । क्योंकि एक बार आपने कहा कि एक जलाशय हैं जिसमें चारों तरफ जल भरा है उसमें नहाने वाला नहाता है- धोनेवाला धोता है, पीनेवाला पीता है, और सींचनेवाला सींचता है अर्थात् जिसका जितना अर्थ या मतलब हैं उतना उससे वह लेता है । सम्पूर्ण वेद है उससे त्रिगुणी लोग त्रैगुण्य संसार के उपासक उपासना के उपयोगी अर्थ के प्रयोजन को और ज्ञानी ज्ञान के उपयोगी अर्थ को लेता हैं । तदनुसार ज्ञानी ब्राह्मण का अर्थ प्रयोजन ज्ञान है और तुम्हारा अर्थ कर्म ही है । (कर्मण्येव अधिकारस्ते) अतः (कुरु कर्माणि) तुम कर्मों को करो । इस तरह कर्म करने के लिए आदेश दिया । फिर तत्काल ही कहते हैं कि (दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगात्) बुद्धि की अपेक्षा कर्म अत्यन्त नीच है । अतः (बुद्धौ शरण मन्विच्छ) बुद्धि को शरण (रक्षक) बनाओ । इसतरह व्यामिश्र मिले जुले मोह में डालने वाले वाक्य आपने कहे हैं । अतः ऐसा नही करके इन दोनों में से जो अतिशय श्रेयस्कर है उस एक को निश्चय करके कहिए । २ ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३ ।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। ४ ।।

बालक्रीड़ा

श्री भगवान् बोले ! हे अनघ ! इस सम्बोधन से यह बतलाया कि तुम्हारा कर्माचरण लोक संग्रह के लिए है। तुम्हारे कर्माचरणों का अर्थ (प्रयोजन) लोक संग्रह हैं। क्योंकि लोक को समझाना है कि निष्काम कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उससे मनुष्य ज्ञान का अधिकारी होता है। हे निष्पाप ! इस लोक में सांख्य के अधिकारियों को ज्ञानयोग के व्यवहार का और कर्म योग के अधिकारी योगियों को कर्मानुष्ठान से वर्त्ताव करना इन दो निष्ठाओं को मैंने अधिकारी भेद से कहा हैं। ३ ।।

हे अनघ ! कर्म के आरम्भ किये विना यानी कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने से नैष्कर्म्य की सिद्धि या निष्कर्मता रूप सिद्धि नही मिलती है। "सर्वं कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" सम्पूर्ण कर्मों को मनसे निकालने वाला वशी (सामर्थ्य सम्पन्न पुरुष) सुख पूर्वक रहता है। ऐसी सिद्धि बिना कर्मों के किये नही प्राप्त होती है। यश पुत्र धन रूप फल चाहने वाला कर्म करता है। यदि कहो कि जिसको तो फल की इच्छा ही नहीं होवे उसको कर्म करने की क्या जरूरत है ?

उत्तर। संन्यासमात्र से यानी कर्मों के छोड़ देने से भी केवल सिद्धि नहीं होती है। यानी कर्मों के फल का त्याग कर देने मात्र से भी सिद्धि नहीं होती हैं किन्तु फल की वासना से रहित होकर कर्म करने से आत्मज्ञानरूप सिद्धि होती है। ४।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन!
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

बालक्रीड़ा

कर्मत्याग से अकर्म में पुरुष फंस जाता है इसको दिखाते है कि कोई भी पुरुष क्षण भर भी कभी भी कर्म किये विना नही रह सकता है। क्योंकि प्रकृति के गुण जो कर्मेन्द्रिय हैं वे सब प्राणिमात्र को परवश करके कर्म कराते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मों का त्याग तुम कर भी दोगे तो भी कर्मेन्द्रियां स्वाभाविक कर्मों को कराती रहेंगी। बस यही अकर्म में फंस जाना है । ५ ।

अन्तः करण की शुद्धि के विना बाहिरी इन्द्रियों की वृत्ति को रोक देने से भी भीतरी वासनायें नष्ट नहीं होंगी और वासनाओं के रहते पुरुष ज्ञान का अधिकारी नहीं हो पायेगा इस तत्त्व को कहते हैं कि जो पुरुष बहिरिन्द्रियों का संयम करके मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मूढ मिथ्याचारी कहाता है अर्थात् उसकी आयु वृथा बीतती है । ६ ।

किन्तु हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों को वश में कर के विषयों में आसक्त नहीं होकर कर्मेन्द्रियों से कर्म का आरम्भ करता है वह विशिष्ट है अर्थात् ज्ञानी एवं योगी सबसे बड़ा है, अधिक है। ७ ।

हे अर्जुन! तुम नियम से कर्म ही करो क्योंकि कर्मों के न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। इसके सिवाय यह बात भी है कि विना कर्म किये शरीर यात्रा भी नही चल सकती है अर्थात् लौकिक कर्म तो किसी भी

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

बालक्रीड़ा

अवस्था में वन्द नही हो सकते हैं तव शास्त्रीय कर्मों का त्याग करना विकर्म में फँसना है । । ८ ।

यज्ञार्थात् इसमें अर्थ शब्द विषय का वाचक है । इसमें प्रमाण "अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु" यह मेदिनी कोप है । अतः यज्ञार्थ माने यज्ञ विषयक यज्ञोपयोगी कर्म से अन्य कर्म में प्रवृत्त यह लोक यह जन कर्म के बंधन में फंस जाता है जन्म मरण के चक्कर में आ जाता है । क्योंकि परमात्मा के उद्देश्य से कर्म करने से लौकिक कर्म भी वैदिक कर्म के अङ्ग होने से वन्धन के हेतु नही होते हैं इस लिए हे कौन्तेय ! तुम संग का त्याग कर के यज्ञ के लिए कर्म करो । । ९ ।

पहले कल्प के आदि में सृष्टि रचना के समय प्रजापति ने यज्ञों के साथ प्रजा की सृष्टि की । यानी यज्ञ तथा प्रजा दोनों की सृष्टि साथ २ की और बोले कि हे प्रजाजन ! तुम लोग इन यज्ञों से वृद्धि को प्राप्त करो । क्यों कि यह यज्ञ तुम लोगों की कामनाओं का दोहन करने वाला है । अर्थात् वाञ्छित पदार्थों को देने वाला है । १० ।

यह यज्ञ कैसे तुम लोगों के लिए इष्ट का देने वाला होगा उसको कहते हैं कि इस श्रौत स्मार्त यज्ञ के द्वारा तुम लोग देवताओं की भावना करो अर्थात् चरु पुरोडाश आदि से इनको सन्तुष्ट करो । और सन्तुष्ट हुए ये इन्द्रादि देवता तुम लोगों को सन्तुष्ट करें ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

बालक्रीड़ा

इस प्रकार परस्पर को एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम लोग परम उत्कृष्ट श्रेय को प्राप्त करो। अपने अपने इष्ट पदार्थ को पावो। ११।

श्रौत स्मार्त यज्ञों से सन्तुष्ट हुए देवता लोग तुम लोगों के लिए भोगों को पशु पुत्र कलत्र धन एवं धान्य आदि को देंगे। यदि तुम लोग इन देवताओं के दिये हुये इन पदार्थों को देवताओं के लिए अर्पित किये विना तुम्हारे में से जो भी कोई खायगा या खाता है वह चोर है अर्थात् वह प्रत्यवाय का भागी हो गया उस का पावन ज्ञान एवं योग नहीं कर सकते हैं क्योंकि कहा है कि "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" ॥ १२ ॥

लौकिक कर्म भी यज्ञोपयोगी होने से यज्ञ ही कहलाते हैं इसका निदर्शन करते हैं।

यज्ञ शिष्ट अर्थात् यज्ञ करने के वाद अवशिष्ट वचे हुए अन्न को खाने वाले सन्त लोग सब पापों से छूट जाते हैं। यहां यज्ञ शिष्ट में यज्ञ शब्द से पञ्च महायज्ञ विवक्षित हैं—वे पंच महा यज्ञ ये हैं।

ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च ।
भूतयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्च यज्ञाः प्रकीर्तिताः ।

इनमें अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है। होमकरना देवयज्ञ है। तर्पण पितृयज्ञ है। वलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि भोजन अतिथि सपर्या मनुष्य यज्ञ है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।

गरुड पुराण ११५ अध्याय।

मनुस्मृति ४।२१ में ब्रह्म यज्ञको ऋषियज्ञ कहा है

ऋषियज्ञं पितृयज्ञमित्यादि। एक प्रासङ्गिक चर्चा भी कर देते हैं कि देव ऋषि एवं पितरों का यज्ञ जैसे अवश्य करणीय है वैसे ही इन तीनों के ऋणों का अपाकरण भी आवश्यक है—

देवानाञ्च पितृणाञ्च ऋषीणाञ्च तथा नरः।
ऋणवान् जायते यस्मात्तन्मोक्षे यत्नवान् भवेत्।

उत्पन्न हुआ मानव देव पितर एवं ऋषि इन तीन का ऋणी कर्जदार होता है अतः इन ऋणों से छूटने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

उन ऋणों से छूटने (परिशोध) का उपाय विष्णु धर्मोत्तर में ऐसा लिखा है।

देवानामनृणो जन्तुर्यज्ञैर्भवति मानवः।
अल्पवित्तश्च पूजाभिरुपवास व्रतैस्तथा।
श्राद्धेन प्रजया चैव पितृणामनृणो भवेत्।
ऋषीणां ब्रह्मचर्येण श्रुतेन तपसा तथा।

पैदा हुआ धनी मानव यज्ञों के करने से देवताओं के ऋण से मुक्त होता है। किन्तु जो अल्पवित्त है वह पूजा एवं उपवासों को करके उक्त ऋण से मुक्त होता है। श्राद्ध एवं सन्तान के द्वारा पितरों के ऋण से छूटता है। और ब्रह्मचर्य, शास्त्राध्ययन एवं तप के द्वारा ऋषियों के ऋण से मुक्त होता है।

यज्ञ का शेष खाने वाले सब पापों से छूट जाते हैं। उनके सब पाप कौन है कैसे छूटते है उसको कहते हैं। जिनमें अध्यात्म वायु रहती है उनमें पृथ्वी जल एवं अग्नि के संयोग से जैसे प्रत्यक्ष जीव पैदा हो जाते हैं। वैसे अन्न औषधि आदि के पौधों में अध्यात्म वायु के संचार होने से उक्त संयोग से जीव पैदा होते है। अतः ये चेतन है। इनमें वृद्धि एवं ह्रास होता है। ये बढ़ते है फूलते हैं फलते हैं। सूखते हैं इनके नाश करने से जीव हिंसा होती है। इस प्रकार के जीवों की हिंसा के पांच स्थान गृहस्थ के घर में होते हैं — जैसे—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

बालक्रीड़ा

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पञ्च सूना गृहस्थस्य वर्त्तन्तेऽहरहः सदा ॥

कण्डनी ऊखल १ पेषणी चक्की २ चूल्हा ३ जल का घड़ा ४ एवं मार्जनी झाडू बुहारी। इनके द्वारा अन्नादि में रहने वाले जीवों की हिंसा होती है जिससे पाप होता है। अतः इनके एवज में अर्थात् इनसे बचने के लिए महामना लोग सर्वदेव स्वरूप ईश्वर की महिमा के प्रतिनिधि पंच महायज्ञों का सेवन करते हैं। अतः इन पापों से छूट जाते हैं। जैसा कि कहा है पंचसूनाकृतं पापं पञ्च यज्ञैर्व्यपोहति। किन्तु जो पुरुष यज्ञ के उद्देश्य से देवादि के लिए पाक नहीं बना करके अपने ही उद्देश्य से अपनी उदर पूर्ति के लिए पाक बनाते हैं वे अन्नादि के रूप में पाप को खाते हैं। अतः स्वयं पापी हैं। १३।

पञ्चमहायज्ञों के करने से वह पाप क्यों नहीं लगता है इसका उत्तर देते हैं। कर्म से यज्ञ पैदा है। "यज्ञः कर्म समुद्भवः" अध्वर्यु होता उद्गाता एवं ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के क्रियाकलाप कर्मानुष्ठान का नाम यज्ञ है। इन यज्ञों से पर्जन्य होता है यानी मेघ द्वारा [पृषु सेचने से पर्जन्य शब्द बना है अतः] सेचन माने वृष्टि होती है। उस वृष्टि से अन्न पैदा होता है। अन्न से भूत (प्राणी) पैदा होते हैं। इस प्रकार यज्ञार्थ सब कर्म प्राणिमात्र के हितकारी होते हैं। १४।

यज्ञ कैसे मनुष्य को पापों से बचाता है उस प्रकार को बतलाते हैं— "यज्ञो वै विष्णुः" इस के अनुसार ईश्वर की प्रतिमा भूत ईश्वर के प्रतिनिधि भूत यज्ञ हैं। उनके उत्पादक कर्म ब्रह्म माने वेद से उत्पन्न होते हैं। वह ब्रह्म माने वेद अक्षर से प्रणवरूप से ईश्वर से प्रकट होता है। इस लिए शब्द और अर्थ रूप से सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त हुआ जो वेद है वह यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है। मन्त्ररूप

शब्दराशि एवं अखिल चराचर जगत् स्वरूप अर्थराशि [यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् के अनुसार] वेद सर्व जगत् कारण सूक्ष्म अविनाशी परमात्मा से प्रकट हुआ है। अतः उस वृंहणात्मक ब्रह्म की प्रतिमा ब्रह्म का प्रतिनिधि यह यज्ञ ब्रह्मादि स्थावरान्त समस्तभूत प्रपञ्च का परिपोषक है। इससे अपकार की तो सम्भावना नही है प्रत्युत इस से जगत् का अनन्तगुण उपकार ही होता है।

यहाँ धर्म कर्म में अविश्वासी किसी मूर्ख नास्तिक की शङ्का हो सकती है कि यदि यज्ञ नही किया जायगा तो क्या यह उपकार बन्द हो जायगा ? उत्तर- काम क्रोध लोभ मोह मद एवं मात्सर्य इन छः अनिवार्य दुष्ट वासनाओं से अभिभूत कोई भी प्रवल व्यक्ति इन कामादि से आक्रान्त दुर्वल व्यक्ति को नष्ट भ्रष्ट क्या समाप्त ही कर दे सकता है यदि धर्म का अनुशासन नही हो तो। जैसे बड़ी मछली छोटी-मछलियों को खा जाती हैं कोई रोक टोक करने वाला प्रतिवन्धक नहीं है। इसी को मात्स्यन्याय कहते हैं। इस महाभीषण मात्स्यन्याय से जगत् को वचाने के लिए समाज के प्रधान पुरुष ऋषि महर्षियों ने धार्मिक अनुशासन की व्यवस्था की और उस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक धार्मिक शासक को नियुक्त किया यदि यह धार्मिक शासक नहीं होता तो संसार नहीं वस सकता या वच सकता।

एक कम चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होनें वाले प्राणियों में श्रेष्ट मनुष्य हैं मनुष्यों में भी धार्मिक व्यवस्था का पालक; अत एव प्रकृति 'रञ्जक राजा सर्वश्रेष्ठ है। इस राजा की सर्वश्रेष्ठता का मूल धर्म के अनुष्ठान के उपयोगी यज्ञादि क्रिया है। क्यों कि ईश्वर नें अपने वनाये हुयें जगत् का व्यवहार ठीक ठीक चले इसी लिए वेदों के विधान के अनुसार यज्ञक्रियाओं का प्रवर्त्तन किया। वह यज्ञ क्रिया यदि बन्द हो जायगी तो धर्म के अभाव में जगत् में सर्वत्र मात्स्य न्याय प्रवृत्त हो जायगा। मात्स्य न्याय के प्रवृत्त होने का अर्थ है संसार का विनाश। इस नाश से बचाने के लिए ही यज्ञादि क्रियाओं के अनुष्ठाता धार्मिक शासक को समाज के नेताओ ने महर्षियों के रूप में नियुक्त किया था क्योंकि यदि यज्ञादि क्रिया बन्द हो जायेंगी तो संसार रक्षणरूप उपकार ही बन्द हो जायगा।

इस श्लोक का लोकमान्य तिलक महानुभाव ने कुछ गड़बड़ अर्थ किया है। वे कहते हैं कि "कोई कोई इस श्लोक के ब्रह्म शब्द का प्रकृति अर्थ नही समझते हैं वे कहते हैं कि यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद है। किन्तु वैसा अर्थ करने से सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है इसका अर्थ ठीक ठीक नही लगता है। इत्यादि। यहाँ ब्रह्म शब्द का प्रकृति अर्थ मानने में पहला दोष है कि ["वह ब्रह्म आपके अनुसार प्रकृति, अक्षर से परमेश्वरसे पैदा हुआ है। यदि प्रकृति को अक्षर से (परमेश्वर) से पैदा हुई मानेगें तो "अजामेकां" इस श्रुति की एवं प्रकृतिं "पुरुषञ्चैव विद्धयनादी उभावपि" इस स्मृतिकी क्या दशा होगी। इसके बाद सांख्यकारिका "मूल-प्रकृतिः" की और सांख्य तत्वकौमुदी "मूलं चासौ प्रकृति श्चेति मूल प्रकृतिः"। विश्वस्य कार्य कारण संघातस्य सा मूलं न त्वस्या मूलान्तर मस्ति। अनवस्था प्रसङ्गात्। नचानव-स्थायां प्रमाणमस्ति इति भावः" की क्या हालत होगी और मूले मूलाभावादमूलं मूलम् इस सिद्धान्तकी क्या गति होगी। सब जगहोंमें खण्डल-मण्डल हो जायगा। श्रुति प्रकृतिको अज माने पैदा नहीं होने वाली मानती हैं स्मृति इसको अनादि अर्थात इसका कोई आदि अर्थात कारण नहीं है। कारिका इसी को मूल मानती है। सांख्यतत्वकौमुदी में कहा है कि यह प्रकृति भी है और मूल भी है। अर्थात् विश्व का यह मूल है इसका कोई दूसरा मूल नहीं है क्योंकि यदि इसका भी किसी को मूल मानेंगे तो उसका मूल क्या ? फिर उसका मूल क्या इस तरह अनवस्था हो जायेगी। प्रश्न—यदि कहें कि हो जाय अनवस्थात क्या आपत्ति है ? इस पर उत्तर है कि जब व्यवस्था हो सकती है तब अनवस्था के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् जिस किसी नित्य भूत पदार्थ में कारण परम्परा का पर्यवसान होगा वह पदार्थ कौन ? क्योंकि पुरुष तो अपरिणामी है उसमें पर्यवसान हो नही सकता है। और जहाँ उसकी समाप्ति होगी वहाँ विश्राम करना होगा अतः वह पर्यवसान प्रकृति में हो सकता है। इस तरह कारण की व्यवस्था हो जाने से अनवस्था का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि मूल उपादान कारण अमूल होता है मूलशून्य होता है अतः मूल में कोई मूल नहीं है।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥१६॥

बालक्रीड़ा

दूसरा दोष यह है कि सर्वगत ब्रह्म आपके अनुसार प्रकृति, यज्ञ में सदा प्रतिष्ठित है। उस प्रकृति का यज्ञ में प्रतिष्ठित होना कैसा ? यज्ञ में तो वेद विधान का एवं वैदिक अध्वर्यु होता उद्गाता प्रतिप्रस्थाता ब्रह्मा तथा यजमान का प्रतिष्ठान है। इस तरह वेद ही यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है प्रकृति का तो वहाँ प्रतिष्ठान नहीं है। महाभारत के शान्तिपर्वीय सिद्धान्त के अनुकूल यज्ञ प्रकरणस्थ (अनुयज्ञं जगत्सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा) यज्ञके अनुगत जगत् है और जगत् के अनुगत यज्ञ है यह वर्णन भी संगत हो जाता है। क्योंकि जगत् का व्यवहार ठीक ठीक चले इसी लिए यज्ञ चक्र का प्रवर्तन किया है और इस यज्ञ चक्र की विधि को वेदों ने बतलाया है। अथ च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। यो वेदभ्योऽखिलं जगत् इत्यादि से भी यही सिद्ध होता है अतः लोकमान्य का लेख लोक को मान्य नहीं है। १५।

इस प्रकार प्रवृत्त हुए सर्वोपकारक यज्ञ चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करता है वह हे पार्थ ! अघायु है यानी पाप करने की इच्छा में आयु को विताता है। वह इन्द्रियाराम है विषय सुख का ही सेवन करने वाला है। वह व्यर्थ ही जीता है अर्थात् हजारों जीवों की हत्या करके एक अपने को सुखी करने वाले का जीवन क्या है अपि तु उसको धिक्कार है। १६।

अब गृहस्थ से अन्य योगी के लिये कहते हैं कि जो योगी आत्मा में रति करता है आत्मा से तृप्त है यानी विषयों से इन्द्रियों को हटा चुका है। आत्मा में सन्तुष्ट है लोकेषणा रहित है उसको कोई कर्त्तव्य नहीं है। वह तो दर्शन मात्र से सबको उपकार पहुँचाता है ऐसे महा पुरुष के लिये शास्त्र कहता है कि उसे काम्य एवं निषिद्ध कर्म नहीं करना चाहिये किन्तु प्रत्यवाय को हटाने के लिए नित्य एवं नैमित्तिक कर्म तो करने ही चाहिये। जैसे कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

बालक्रीड़ा

मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्य निषिद्धयोः
नित्य नैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया । १७ ।

क्योंकि ऐसे महापुरुष यदि कोई काम करे या नहीं करे उनका उससे कोई अर्थ प्रयोजन नहीं है अर्थात् इसके कर्म करने से या नहीं करने से कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है। यहाँ कहते हैं कि कर्म करने या नहीं करने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है आगे कहेगें कि लोक संग्रह के लिए कर्म करना आवश्यक है क्योंकि यदि कर्म नहीं करेगें तो प्रजा उत्सन्न हो जायगी अतः यह परस्पर विरोधी कथन है। प्रश्न होता है कि क्यों नहीं प्रयोजन है। उत्तर = क्यों कि ऐसे महापुरुष किसी भी प्राणी को किसी भी अर्थ के लिये मतलब के वास्ते व्यपाश्रय नही रखते हैं। अर्थात् इस योगी का कोई भी भूत किसी भी अर्थ के लिए आश्रय नहीं है। क्योंकि वासना रहित चित्त वाले योगी के लिये कर्म का आश्रय कोई नहीं बनता है वह तो ग्रन्थि के रहते ही बनता है। १८ ।

जब कि वासनाओं से शून्य चित्त वाले योगी के द्वारा किये जाने वाले कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते हैं इस लिये तुम भी असक्त होकर यानी कर्म के फल में प्रीति छोड़ कर निरन्तर कर्म करो। क्योंकि पुरुष असक्त होकर यानी फल की वासनाओं से शून्य होकर यदि कर्म का आचरण करता है तो वह पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ।१९।

क्यों कि जनक आदि गृहस्थ योगी कर्म से ही अच्छी सिद्धि को प्राप्त किये हैं। यहाँ आदि शब्द से याज्ञवल्क्य भारद्वाज अम्बरीष एवं मान्धाता आदि गृहस्थों का ग्रहण या

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ २३ ॥

बालक्रीड़ा

निर्देश जानना चाहिये। चाहे किसी भी आश्रम में हो जो सिद्ध योगी है वह भी लोक शिक्षार्थ कर्म करता है तुम तो गृहस्थ हो अतः लोक संग्रहार्थ अवश्य कर्म करो। २०।

योगी के कर्म करने में लोक संग्रह का प्रकार दिखाते हैं = श्रेष्ठ पुरुष जिस कर्म को करते हैं साधारण जन उसी कर्म को किया करते हैं और वह योगी जिसको प्रमाण मानता है लोक जनता उसी का अनुवर्तन करती है। २१।

हे पार्थ ! मुझ सर्वेश्वर सिद्ध योगी का तीनों लोकों मे कुछ भी कर्तव्य नहीं है क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं जो प्राप्तव्य होकर मुझे नहीं प्राप्त है तब भी मैं कर्म करता हूं। २२।

हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं आलस्य से यानी सावधान नहीं होकर कर्म में प्रवृत्त न होऊं तो ये सभी लोग मेरे पथ का अनुवर्त्तन करेंगे। अर्थात् मेरे कर्म के नहीं करने से हे पार्थ ! मेरे मार्ग का अनुसरण करने वाली जनता भी कर्म नहीं करेगी। २३।

यदि मैं अपने को सर्वेश्वर समझ कर कि मैं सर्वेश्वर हूं सर्व का नियन्ता हूं। सबको सर्व फल का दाता हूं सब फल मेरे अधीन हैं तब मैं किस फल की प्राप्ति के लिये कर्म करूं मुझे कर्म करने की कोई जरूरत नहीं है इस तरह यदि मैं कर्म न करूं तो यह लोक नष्ट

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजा॥ २४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनां।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

बालक्रीड़ा

हो जायेगा। यदि नष्ट नहीं हुआ तो भी मनुष्य एवं पशुओं के सांकर्यका करने वाला हो जाऊंगा। जिसके फल स्वरूप मैं ही सम्पूर्ण प्रजाका हनन करने वाला घातक वन जाऊंगा। अतः जैसे मैं सर्वान्तिर्यामी होकर भी सूर्यादि देवताओं और मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणी मात्र की इन्द्रियों को प्रेरणा देता हुआ लोक की स्थिति के लिए कर्म करता हूँ। अतः मेरी ही वाहरी आज्ञा वेद के अनुसार इस लोक की उत्कृष्ट स्थिति के वास्ते सिद्ध योगी लोग कर्म किया करें नहीं तो यह लोक जनता पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि के समान तुच्छ हो जायेगा। २४।

हे भारत! जैसे अज्ञानी कर्म फल में सक्त हुये कर्म करते हैं वैसे ही ज्ञानी भी लोक संग्रह की इच्छा से ही केवल न कि किसी कर्म फल की प्राप्ति की भावना से असक्त होकर कर्म करें। २५।

ज्ञानी पुरुष कर्म फल का त्याग करता हुआ कर्म के सङ्गी माने कर्म में आसक्ति रखने वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भेद को उत्पन्न नहीं करे अर्थात् जैसे इस लोक में कृषि सेवा एवं वाणिज्य आदि कर्मों से सङ्गृहीत धन, भोग से खतम हो जाता है उसी तरह परलोक में भी कर्मों से प्राप्त फल, भोग से क्षीण हो जाते हैं इसके बाद पुनः उन कर्म कर्त्ताओं को मृत्यु लोक में आना पड़ता है। इसी लिये सन्त महात्मा लोग कर्मों के जाल से अलग होकर ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञान की साधना में लगे रहते हैं। इस तरह की बातों से उन कर्मों में लगे हुये अज्ञानियो की बुद्धि को विचलित नहीं करें। अपि तु युक्त होकर यानी सावधान होकर कर्मों का सम्यक् आचरण करें जिससे अज्ञानियों की बुद्धि में कर्मों के प्रति प्रीति ही उत्पन्न हो अप्रीति नहीं हो जाय। २६।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ॥
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

ज्ञानी एवं अज्ञानी के कर्तृत्व में वर्ताव में भेद बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं। इससे पहले एक बात बतला देना आवश्यक है। वह बात यह है कि ज्ञानवान् पुरुष कर्म करता है ज्ञान रहित पुरुष भी कर्म करता है। स्थिति तो यही है किन्तु यहाँ कहते हैं कि (प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि कर्माणि) प्रकृति के गुण सत्त्व रज एवं तम कर्मों को करते हैं। यह कैसे। क्योंकि खाना पीना उठना बैठना पढ़ना लिखना आदि कर्म हैं। सत्त्वादि के कर्म करने का मतलब हुआ सत्वादि गुण खाते पीते हैं परन्तु ऐसा साधारणतः समझ में आता नही है। ज्ञानी एवं अज्ञानी का कर्म करना समझ में आता है। २७।

आगे कहते हैं गुणों एवं कर्मों के विभाग का अंश का जानकार व्यक्ति यह मानता है कि गुण गुणों में वर्तन करते हैं प्रवृत्त होते हैं यानी सत्त्वादि गुण सत्त्वादि गुणों में क्रिया करते हैं। यह भी कैसे। क्योंकि लाघव एवं प्रकाश धर्म वाला सत्त्व गुण जैसे स्वयं वर्तन क्रिया शून्य है वैसे ही आवरण धर्म वाला तमो गुण भी स्वयं क्रिया रहित है। हां रज क्रियावान् है। तब गुणाः यह बहुवचन असंगत है। सभी गुण सभी गुणों में वर्त्तते हैं यह नहीं बनता है। २८।

फिर आगे लिखते हैं कि गुण सम्मूढ व्यक्ति गुण एवं कर्मों में सक्त होता है यह कैसे। क्योंकि सत्व सुख स्वभाव है रज दुःख स्वभाव है और तम मोह स्वभाव है। अतः तमो गुण से संमूढ व्यक्ति रजो गुण से क्रियमाण कर्मों में सक्त होता है यही अर्थ इन शब्दों का होगा। इसका मतलब हुआ कि वह व्यक्ति दुःखात्मक ह कर्मों में सक्त रहता है। दुःख बहुल कर्मों में संलग्न रहता है। क्योंकि रजो गुण के सिवाय और गुणों में क्रिया ही नही है। तब सुखात्मक एवं मोहात्मक कर्मों में सक्ति कैसी। अतः प्रकृति के गुणों से क्रियमाण कर्म यह कहना संगत नहीं हैं।

जो व्यक्ति गुण और कर्म के अंशों का जानकार है यानी इतना अंश गुण का है और इतना अंश कर्म का है ऐसा जानता है वह यह मानता है कि गुण गुणों में वर्तन करते हैं अतः सक्त नहीं होता है अर्थात् गुणों में सक्त नहीं होता है। यही अर्थ मिलता है कर्मों में सक्त नहीं होता है ऐसा अर्थ नहीं मिल सकता है। क्योंकि कर्म कर्मों में वर्तते हैं यह लिखा नहीं है। तब कैसे वैसा अर्थ मिल सकता है। अतः इन श्लोकों (२७।२८ एवं २९) का अर्थ यों समझना चाहिए। सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त है कि प्रकृति विश्व की कार्य संघात की मूल हैं अतः वह कर्त्री है। उसने कर्म किया महत्तत्व पैदा हुआ, फिर महत्तत्व से अहंकार पैदा हुआ। इसके बाद रजोमिश्रत सत्व गुण वाले अहंकार से पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन इस तरह एकादश इन्द्रिय गण पैदा हुआ तथा रजो मिश्रित तमो गुण वाले अहंकार से पञ्च तन्मात्राएं और (पंचभ्यः पञ्चभूतानि) इनसे पंच भूत पैदा हुए। इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने तीन गुणों वाले अहंकार के द्वारा (गुणाणि द्वाराणि) एवं कर्मों को कार्यों को माने सृष्टि को करती है। किन्तु मैं चेतन सब कर्मों को करता हूं क्योंकि जो भी कुछ विषय है उसमें मैं अधिकृत हूं मैं ही इसके करने में शक्त हूं ये सब विषय मेरे लिए हैं मुझसे अन्य कोई इनका अधिकारी नहीं है इस लिए मैं ही हूं इस अभिमान रूप अहंकार से विमूढ हुआ पुरुष यह मानता है कि सब कार्यों को मैं करता हूं।

इस तरह गुणों के द्वारा प्रकृति से दश इन्द्रियां एवं पञ्च महाभूत आदि सब कार्य क्रियमाण हैं किये जाते हैं। यह सिद्धान्त है। और कार्य तथा कारण में अभेद माना जाता है यह भी सिद्धान्त है। इस अभेद सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के गुणों से उत्पन्न एकादश इन्द्रियां और शब्दादितन्मात्रा को भी गुण ही मान लेते हैं। तदनुसार २८ वें श्लोक में लिखते हैं कि गुण माने एकादश इन्द्रियों और उनके कार्यों के विभाग को तत्ववित् जानने वाला समझता है कि आँख का कार्य रूप को देखना, कान का कार्य शब्द को सुनना, नाक का कार्य सूंघना, त्वचा का कार्य छूना, और जिह्वा जीभ का कार्य रसका चखना। (यह पंच ज्ञानेन्द्रियाँ रूप गुणों का और उनके कार्यों का विभाग है।

वाक् का कार्य कहना, पाणि हाथ का कार्य लेना देना। पाद का कार्य चलना फिरना आदि विहार हैं, गुदा का कार्य मल का त्याग करना उपस्थ का कार्य आनन्द (प्रजनन नियंत्रित है) लेना और पेशाव करना। (यह पंच कर्मेन्द्रियां रूप गुणों का और उनके कार्यों का विभाग है)।

इसी तरह एकादशवें इन्द्रिय मन रूप गुण का कार्य संकल्प करना है। मुझ पुरुष के ये गुण और ये कार्य नहीं है और यह भी समझता है कि गुण रूप एकादश इन्द्रियां गुणों में अपने कर्मोंमें वर्त्तन करते हैं अर्थात् सब गुण सब गुणों में गमन करते हैं जैसा कि लिखा है।

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।

इन सब को समझ कर किसी कर्म में सक्त नहीं होना चाहिए अर्थात् न मैं सब कर्मों को करता हूं और न कर्म करने के अहंकार से विमूढ होता हूं ऐसा तत्त्व से समझना चाहिए।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान और दृढ करते हैं कि प्रकृति के तमो गुण अहंकार से सम्यक् मूढ लोग गुण रूपी इन्द्रियों के कर्मों में कार्यों में सक्त होते रहते है। अतः तत्त्ववित् सर्वज्ञ उन अल्पज्ञ मन्द अधिकारियों को विचलित नहीं करें।

इस तरह अर्थ करने से तीनों श्लोकों की व्याख्या संगति के साथ हो जाती है। लोक मान्य तिलक का यह लिखना कि २१ वें श्लोक का कुछ लोग यों अर्थ करते हैं कि गुण यानी इन्द्रियां गुणों में यानी विषयों में वर्त्तती है। यह अर्थ कुछ शुद्ध नहीं है। वह लेख लोक को मान्य नहीं हैं। क्यों मान्य नहीं है इसका उत्तर आप ही के शब्दों "सांख्य शास्त्र के अनुसार ग्यारह इन्द्रियाँ और शब्द स्पर्श आदि ५ विषय, मूल प्रकृति के गुणों में से ही गुण हैं।" में हो जाता है। भगवन् ! जब इन्द्रियाँ भी गुण है और इनके कार्य भी गुण है और सब का सब में गमन भी सिद्धान्त किया हुआ है। तब उक्त लेख शुद्ध नहीं है यह कैसा लेख है। अपने ही शब्दों से अभिभूत होकर आप क्या लिख गये यह आप खुद समझ नहीं पाये।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदा मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २६ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

बालक्रीड़ा

विचलित नहीं करें अर्थात् उद्‌भव परिवंतन एवं अकरण यानो स्थिति शक्ति शाली तीन ज्योतियां परस्पर में नित्य मिलती हैं अतएव वीजभाव अंकुर भाव एवं तिरोभाव को धारण करनें वाले वैदिक पदार्थ नित्य है अविनाशी है उनका कार्य आविर्भाव एवं तिरोभाव के प्रवाह में नित्य वहता है इसका नियमित स्थायि भाव वैदिक भावना से होता है ऐसे समझने वाला परमात्मा के तत्व को जानने वाला कभी अज्ञों को विचलित नही करें। यह उक्त भावना निखिल लोक का उपकार करनें वाली है। २६।

हे अर्जुन ! तुम अध्यात्म ज्ञान से मुझ सर्वात्मा में सम्पूर्ण कर्मों को रख दो और फल प्रार्थना एवं ममता का त्याग कर विगतज्वर होकर युद्ध करो। विगतज्वर के माने है कि ये मेरे ही है अतः इनको मारना अपनें को ही मारना है फलतः यह आत्म हत्या जनित संताप ही ज्वर है इसको छोड़ देने वाला विगतज्वर होता है। ३०।

यह मत कि जो वैदिक कर्म लोकोपकारक है इनका लोक सङ्ग्रहार्थं अनुष्ठान ही करना चाहिये तथा अधिकारी को विना समझे उन कर्मों में किसी की अरुचि को नहीं करावे और स्वयं भी इन कर्मों का त्याग नहीं करें इस मेरे मत को जो मनुष्य श्रद्धा कर के असूया रहित होकर नित्य अनुष्ठान करते हैं वे कर्म वन्धनों से छूट जाते हैं। ३१।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपान्थनौ ॥ ३४ ॥

बालक्रीड़ा

जो तो असूया करते हुए मेरे इस मत का अनुष्ठान नहीं करते हैं उनको तुम "सभी तरह की जानकारी रखते हुए भी मूर्ख हैं।" ऐसा समझो। उनकी चेतना शक्ति यानी बुद्धि नष्ट हो गई है अतः वे बुद्धि नाशात् प्रणश्यति के उदाहरण हैं ।३२।

प्रश्न = सब तरह की जानकारी रहते हुए भी लोग मूर्खता क्यों करते हैं। उत्तर। जानता हुआ भी पुरुष अपनी प्रकृति के स्वभाव के अनुरूप ही चेष्टा करता है। प्राणी मात्र अपनी वासना के अनुसार प्रकृति को स्वभाव को प्राप्त करता है। निग्रह नियम बोधक शास्त्र इस विषय में क्या कर सकते हैं शुभ वासनानुसार प्रकृति वाले तो मेरे मत का अनुवर्त्तन करते हैं और विपरीत वासना वाले अपनी प्रकृति के वश में हुए मेरी अभ्यसूया करते हैं इसमें निग्रह का बल नहीं चलता है निग्रह से काम नहीं बनता है। ३३।

प्रश्न = यदि निग्रह कुछ नहीं कर सकता है तो क्या शास्त्र का उपदेश एवं पुरुषार्थ सब व्यर्थ है। उत्तर = नहीं; व्यर्थ नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों का अपने विषय में राग प्रीति और द्वेष विराग व्यवस्थित हैं स्वभावतः निश्चित है (योग्यविभ्रविशेष गुणानां स्वोत्तरवर्त्ति गुणनाश्यत्व नियमः) क्योंकि एक नियम है कि आत्मा में रहने वाले गुणों में से पूर्ववर्त्ति गुण उत्तर वर्त्ती गुणसे नष्ट हो जाते हैं। तदनुसार जब एक विषय में राग बढता है तब उससे द्वेष हट जाता है इसी तरह जब द्वेष बढ़ता है तब राग हट जाता है यही प्रकृति का कार्य है। इस में शास्त्र के उपदेश से जन्य विवेक और पुरुषार्थ का कार्य यह हैं कि उन राग और द्वेष के वश में पुरुष को नहीं होना चाहिए ऐसी दृढ भावना को जागरित करले क्योंकि ये राग और द्वेष ही इन योगी के परिपन्थी हैं पथ में रोड़ा अटकाने वाले हैं। ३४।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

बालक्रीड़ा

अच्छे तरीके से जिसका अनुष्ठान किया जा सकता है ऐसे पर धर्म की अपेक्षा अपना विगुण भी धर्म अतिप्रशस्त हैं। इस लिये यदि अपने धर्म के अनुष्ठान करने में मर जाना पड़े तो भी अत्यन्त श्रेयस्कर है क्यों कि पर धर्म से भय होने की सम्भावना है। पर का धर्म भय देने वाला है। फलतः जो योगी योगारूढ नहीं हो चुका है वह शम का अधिकारी नहीं है अपि तु कर्म का ही अधिकारी है।३५।

इस पर अर्जुन बोले हे वार्ष्णेय ! हे वृष्णिवंशोद्भव कृष्ण ! यह पुरुष किसकी प्रेरणा से इच्छा के बिना भी अर्थात् नहीं चाहता हुआ भी बलात् जबरन् नियुक्त किये हुए की तरह राग द्वेष के फन्दे में पड़कर पाप कर्म करता है।। ३६।

श्री भगवान् बोले हे अर्जुन ! यह प्रेरणा देने वाला काम है विषयों की तृष्णा है लालसा है जो रजो गुण से उत्पन्न हुआ है। यही पुरुष को पाप कर्म के करने में प्रेरणा देता है। कामात् क्रोधोऽभिजायते के अनुसार यही काम क्रोधरूप में परिणत हो जाता है। यही वह दोष है जिसके कारण मानव अकर्त्तव्य है ऐसा समझता हुआ भी पापाचरण करता ही चला जाता है यह काम महाशन है महा पाप है अर्थात् यह काम ऐसा पाप हैं जो पुण्यात्मा के पुण्यों को खा जाता है पुण्य को भस्म कर देता है जिसके कारण अतुल धन एवं बाहु बल शाली भी सम्राट् भी दर दर का भिखारी हो जाता है। अतः इसको वैरी समझो। ३७।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

बालक्रीड़ा

जैसे अग्नि धूम से, दर्पण मल से, गर्भ जरायु पट से आवृत रहता है उसी प्रकार यह आत्म ज्ञान स्वविषय तृष्णा रूप काम से आच्छादित रहता है ढका रहता है। ३८।

हे कौन्तेय ! यह काम ज्ञानी का आत्मतत्त्व के अन्वेषण में लगे हुए व्यक्ति का नित्य वैरी है कभी दूर नहीं हटने वाला वैरी है। यह दुष्पूर अग्नि है जैसे घी की आहुति देते रहने से अग्नि बढ़ता ही है शान्त नहीं होता है उसी प्रकार यह काम भी है। इसने ज्ञान को ग्रस रखा है। यद्यपि स्वर्गकामो यजेत दध्ना इन्द्रियकामः इत्यादि श्रुति सिद्ध यज्ञो में प्रवृत्ति कराने वाला यह काम इच्छा लोकोपकारक भी है तब भी यह ज्ञानी पुरुष का नित्य वैरी है। इसके जय किये बिना सिद्धि नहीं होती है। ३९।

दश इन्द्रियां मन और बुद्धि इस वासनारूप काम के अधिष्ठान हैं आश्रय है अतः यह काम इनके द्वारा ज्ञान को आच्छादित करके देही को मुग्ध कर देता है। ४०।

इस लिये हे भरतर्षभ ! तुम पहले इन इन्द्रियों को वश में करो और ज्ञान एवं विज्ञान के नष्ट करने वाले इस काम को मारो। ४१।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

अनादि अविद्या प्रकृति में काम रहता है अतः अविद्या के प्रकृति के उद्बोध से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है उससे अहंकार और अहंकार से मन तथा दश इन्द्रियां पैदा होती हैं। इस तरह यह इन्द्रियों तक फैला रहता है। सब विषयों से परे इन्द्रियां हैं इन्द्रियों से परे मन है मन से परे बुद्धि है। और जो बुद्धि से भी परे है। वह भ्रमरूप काम है उसको प्रवृत्ति का कारण जानों । ४२ ।

इस प्रकार महाबाहो ! बुद्धि से परे इस ज्ञान विरोधी काम को समझ कर आत्मा से बुद्धि से आत्मा का मन का संस्तम्भन करो कर्मयोग में अवस्थित करो और फिर इस दुरासद दुःख से जिसका आसद विशरण होता है उस काम रूपी शत्रु को मारो । ४३ ।

इति बालक्रीड़ा में यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

अथ तृतीयाध्यायस्य समीक्षा

अत्र तृतीयाध्याये भगवान् मधुसूदनः कथयति यत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा तत्पुरक्षार्थं वेदानां सहारे [पह धातोः आरन् प्रत्यये सहारः शृङ्गारभृङ्गार वत्] यज्ञं ससर्ज । एवं वेदानां प्राधान्यं जुघोप । परमितः प्राक् द्वितीयाध्याये [वेद वादरताः । यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः] इत्येवं वेदानां वादे प्र कथने रताः सुखमनु भवन्तोऽविपश्चितः यो विशेषं पश्यन्तोऽपि न चेतन्ते हरितं मरितं साञ्जनुद्यानं प्रदर्शयन्तीं वाणीं प्रवदन्ति । येषां चित्तं तया वाण्या अपहृतम् अर्थात् ये सावधाना न सन्ति भोगे ऐश्वर्ये च प्रसक्ता इत्यादि वेदनिन्दनम् पुनरत्र तृतीयाध्याये कथयन्ति यत्-यो वेदानुसारं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयति तस्य जीवनं व्यर्थम् । एवं पूर्वापरविरोधिकथनं व्यामोहे प्रसज्जयदिव लगति ।

अत्र ३ अध्याये ते कथयन्ति यस्य वेदेन विधानं कृतं तस्मिन् यज्ञे सर्वगतं ब्रह्म नित्यं प्रतिष्ठितं वर्त्तते । २ ये तत्रोक्तम् यत् [त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !] हे अर्जुन ! वेदानां प्रतिपाद्यो विषयः त्रैगुण्यं संसारः; अर्थात् सांसारिकीं कथां कुर्वन्ति वेदा अतस्त्वं निस्त्रैगुण्यो भव वेदं त्यजेत्यर्थः । किन्तु अस्मिन्नेव ३ अध्याये ब्रुवन्ति "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः" अतः हे कौन्तेय ! निश्चयं कृत्वा युद्धाय उत्तिष्ठ युद्धं कुरु । तत्किं युद्धकरणं संसारविषयिणी कथा नास्ति । एवं परस्परासंलग्नं वदनम् ।

पुनस्तृतीयेऽध्याये ऊचुः यत् मया प्राप्तव्यं फलं किमपि नास्ति तथाप्यहं कर्म करोमि । प्राप्तव्यफलाभावे किमर्थं कर्म क्रियते इति सति प्रश्ने उत्तर्यते—यदि अहं कर्म न कुर्याम् तदि इमे लोका उत्सीदेयुः । अतस्त्वमपि लोकसंग्रहदृष्टया कर्म कुरु । एवं कर्म कर्तुं प्रेरयन्ति । किन्तु अस्मिन् एव ३ ये अध्याये ब्रुवन्ति यत् "मयि सर्वाणि लौकिकानि अलौकिकानि च कर्माणि आधाय शोकसन्तापरहितो भव । एवं कर्म मह्यं समर्पय । परं युद्धं कुरु । इति किम् वाक्यम् । कर्मतो निवर्त्तना युद्धे प्रवर्त्तना ।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः"

इत्यत्र सर्वाणि कर्माणि प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि इत्युच्यते। परं प्रकृतिः कार्यसंघातात्मकस्य विश्वस्य मूलं कारणम्। इति सांख्यतत्त्व कौमुद्यां प्राहुराचार्याः। तेन प्रकृतिः कर्त्रीति राद्धान्तं जगदुः। तेन हि प्रकृत्या क्रियमाणानि कर्माणि इत्येवं वक्तव्यमासीत्। किन्तु एवम्, अकथयित्वा प्रकृतेः गुणैरिति कथनं कथं संगतं स्यात्।

"अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते"

इत्यत्राहंकारेण विचित्रं वा विरुद्धं वा विशेषरूपेण वा यं मूढं मोहयुक्तमवोचुः। तमेव प्रकृतेर्गुणैः सम्यक् मूढं प्रत्यूचुः। इति कीदृशं कथनम्। यतः तस्मिन्नेव प्रसङ्गे नकिः भिन्ने प्रसङ्गे एकवारम् अहंकारं मोहकं तत्त्वं निरदिक्षन् द्वितीयवारं गुणान् मोहकं तत्त्वं निर्दिदिशुः। किमहंकारो गुणाश्च एकमेव तत्त्वम्।

तत्त्ववित्तु महाबाहो! इत्यत्र प्रकृतेर्गुण सम्मूढाः इत्यत्र च प्रकृतेर्गुण कर्मविभागयोस्तत्त्ववित्तु इति मत्वा यत् गुणा गुणेषु वर्तन्ते; ततश्च गुणानां कर्मणाञ्च विभागे अर्थात् गुणाः पृथक् कर्माणि पृथक् सन्तीति अथवा विभक्तेषु गुणेषु कर्मसु चासक्तिं न करोति। किन्तु यः गुणानां विषये सम्मूढः अथवा गुणैर्यः मूढः कृतः स गुणेषु कर्मसु चासक्तिं तनुते। इति किम्

अत्रायं प्रसङ्गः। प्रकृतेर्गुणाः कर्माणि कुर्वते किन्तु अहंकारविमूढात्मा मनुते यत् सर्वाणि कर्माणि कर्त्ताऽहमेव। एवं हि यदा गुणाः कर्मणां कर्त्तारः इति गुणेषु कर्मसु च कर्तृकर्मभावः अथवा कार्यकारकभावः स्पष्टः; तदा गुणा, गुणेषु वर्त्तनं कुर्वन्तीति सन्ध्यानं कथं भविष्यति। अग्रेऽपि कथयन्ति "गुणकर्मसु सज्जन्ते" गुणेषु कर्मसु च आसक्ता भवन्ति इति गुणाः पृथक् कर्माणि च पृथक् इयमेका कथा।

अपरेयमितः कथा। गुणा गुणेषु सन्तीति कथनं "गुणे गुणानङ्गीकारादिति न्यायसिद्धान्तं विरुणद्धि। अतः विचारणीयम्। यतो यदा गुणा गुणेषु तदा कर्मणां किमभून्। तानितु अत्याक्षीत् भवान् अथवा स्वतस्त्यक्तानि। तेषां विषयेऽपि किमपि वक्तव्यम्। प्रसङ्गो ह्ययमपूर्वहः (अधुरः) सञ्जातः।

यदि कर्माणि गुणा एव तदा कर्मयोगवद् गुणयोगोऽपि कथेलिमः । कुतः कर्मयोगमेवं (पौनः पुन्येन) चोकूयते । कोकूयतां गुणयोगमपि ।

इयमपि अपरा कहानी एका वरीवर्त्ति । भगवन् । श्रीमन्तो जगदुः । ये अकृत्स्नविदः अत एव ये मन्दास्तान् न विचालयेत् । भक्तवत्सल ! ये किंचिदपि न जानन्ति ये मन्दाः तेषामेव तु बोधनमावश्यकम् । तेषामेव कृते शास्त्राणि पप्रथन्ते व्याख्यायन्ते च । यत्तेषामज्ञानं दनीध्वंस्येत । दंदह्येत । परं तेषामर्थे भगवद्भिः निगद्यते यत् तान् विचलितान् मा कुरुत । तानज्ञाने एव पतितान् स्थापयन्तु । ते अज्ञान एव पतितास्तिष्ठन्तु । दीनदयालो ! एवं करणे वैषम्य नैर्घृण्यदोषौ भवच्छिरसि आगमिष्यतः । अतः कल्याणपरम्परा विस्तीर्यात् । लोकाः सुरक्षामाप्नुयुस्तथा विदधीत ।

इति तृतीयाध्यायसमीक्षा समाप्तिमगच्छत् ।

*

बालक्रीड़ा

तृतीय अध्याय की समीक्षा

यहाँ तृतीयाध्याय में भगवान् कहते हैं कि प्रजापति ने प्रजा कि सृष्टि की और प्रजा की सुरक्षा के लिये वेदों के सहारे यज्ञ की सृष्टि की । इस तरह वेदों का प्राधान्य बताया । किन्तु इससे पहले द्वितीयाध्याय में (वेद वादरताः । यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः) कहा है कि वेद के वाद में रत यानी उस में सुख का अनुभव करने वाले अविपश्चित् मूर्खलोग हरा भरा सब्ज बाग दिखाने वाली वाणी को कहते हैं । और इस वाणी से जिनका चित्त अपहृत हो गया है अर्थात् जो सावधान नहीं है भोग एवं ऐश्वर्य में प्रसक्त हैं । इत्यादि । फिर यहाँ तृतीयाध्याय में कहते हैं कि इस वेद के अनुसार प्रवर्त्तित चक्र का जो अनुवर्त्तन नहीं करता हैं उसका जीवन व्यर्थ है । इस तरह यह पूर्वापर विरोधी कथन व्यामोह में डालने वाला जैसा लगता हैं ।

इधर कहते हैं कि वेद के द्वारा जिसका विधान किया गया है उस यज्ञ में सर्वगत ब्रह्म नित्य ही प्रतिष्ठित है। उधर कहें हैं कि (त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन) हे अर्जुन! वेदों का प्रतिपाद्य विषय त्रैगुण्य संसार है यानी वेद संसार की बातें कहते हैं अतः तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ यानी वेद को छोड़ दो। किन्तु इसी द्वितीय अध्याय में कहते हैं (तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः) इस लिये हे कौन्तेय! निश्चय करके युद्ध के लिये उठो। तो क्या युद्ध करना संसारी बात नहीं है। तीसरे अध्याय में कहते हैं मेरे लिये प्राप्तव्य कुछ नहीं है तव भी मैं कर्म करता हूँ। यदि मैं कर्म न करूँ तो लोग उत्सन्न हो हो जायेंगे। अतः तुम लोक संग्रह की दृष्टि से भी कर्म करो। इस तरह कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। किन्तु फिर इसी अध्याय में कहते हैं तुम सब कर्मों को मेरे में रख कर शोक एवं संताप से रहित हुए युद्ध करो तो क्या युद्ध कर्म नहीं है।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः"

यहाँ प्रकृति के गुणों से किये जाने वाले कर्म ऐसा कहा है। किन्तु सिद्धान्त है प्रकृति कार्यसंघातात्मक विश्व का मूल है कारण है अतः प्रकृति कर्त्री है। तव (प्रकृत्या क्रियमाणानि) प्रकृति से किये जाने वाले कर्म ऐसा कहना चाहिये था जैसा कि आगे १३ वें अध्याय के २९ वें श्लोक में स्वयं भगवान कहेंगे—

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'

किन्तु ऐसा न कह कर प्रकृतेः गुणैः कहना कैसे संगत होगा।

अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते। यहाँ अहंकार से विविध या विरुद्ध या विशेष रूप से मूढ मोह युक्त कहा किन्तु उसी को गुणों से सम्यक् मूढ कहा यह कैसा कथन है। क्यों कि उसी प्रसंग में न कि प्रसंग भेद में एक वार अहंकार को मोहक तत्व वतलाया दूसरी वार गुणों को मोहक तत्व वतलाया। क्या अहंकार और गुण एकही तत्व है। तत्त्ववित्तु महाबाहो! और प्रकृतेर्गुणसंमूढाः। यहाँ प्रकृति के गुणों और कर्मों के विभाग का जानकार तो यह समझ कर कि गुणों की गुणों में वर्त्तना है अतः गुणों और कर्मों के विभाग में या विभक्त गुणों एवं कर्मों में आसक्ति नहीं करता है। किन्तु जो गुणों के विषय में

सम्मूढ है या गुणों ने जिसको सम्मूढ बना दिया है वह गुण और कर्म में आसक्ति करता हैं यह क्या हैं।

यहाँ प्रसङ्ग तो यह है कि प्रकृति के गुण कर्मों को करते हैं किन्तु अहंकार विमूढ मानता है कि मैं कर्मों को करता हूँ। इस तरह जब गुण और कर्मों में कर्मकर्तृभाव या कार्य कारके भाव स्पष्ट है तब गुण गुणों में वर्तन करते हैं ऐसा समझना केसे होगा। आगे भी कह रहे हैं कि (गुणकर्मसु सज्जन्ते) गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं। इस तरह गुण अलग हैं और कर्म अलग हैं। यह एक बात हुई।

दूसरी बात है कि गणों में गुण हैं यह कहना "गुणे गुणानङ्गीकारात्" इस न्याय सिद्धान्त के भी विरुद्ध है अतः विचारणीय है। क्योंकि जब गुणों में गुण हैं तब कर्म क्या हुए। वे तो छूट गये। उनके बारे में भी कुछ कहना चाहिए। प्रसङ्ग अधूरा रह गया।

यदि कर्म गुण ही हैं तब गुणयोग को भी कहना चाहिए कर्मयोग ही को बार-बार क्यों कहते हैं। एक बात यह भी है जो अतत्ववित् हैं अतएव जो मन्द हैं उन्हीं को समझाने की जरूरत है उन्हीं के लिए शास्त्र की व्याख्या की जाती है। किन्तु उनके लिए आप कहते हैं कि "तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् न विचालयेत्" उनको विचलित मत करो। उनको अज्ञान में पड़ा रहने दो। भगवन्! भक्त वत्सल! दीनदयालो ऐसा करनेपर वैषम्य एवं नैर्घृण्यं दोष भी आपको लग जायगा।

तृतीय अध्याय की समीक्षा समाप्त हो गई।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ! ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

बालक्रीड़ा

अथ चतुर्थ अध्याय का आरम्भ करते हैं। श्री भगवान् ने कहा कि इस अव्यय योग को मैंने सूर्य से, सूर्य ने मनु से, मनु ने इक्ष्वाकु से कहा ॥ १ ॥

हे परन्तप ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त होने वाले योग को राजर्षियों ने जाना था। किन्तु आज यह योग इस परिवर्तनशील महान् काल के कारण नष्ट हो गया ॥ २ ॥

उसी पुरातन उत्तम एवं रहस्यभूत योग को आज मैंने तुमसे कहा है। क्यों कि तुम मेरे भक्त एवं सखा हो ॥ ३ ॥

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! आप का जन्म तो आज हुआ है और सूर्य का जन्म तो बहुत पहले हो चुका है। तब मैं कैसे यह जानूं कि आपने यह योग सूर्य को बतलाया है ॥ ४ ॥

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि हे परन्तप ! अर्जुन मेरे और तेरे बहुत

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

जन्म हो चुके हैं । उन सबको मैं जानता हूं तुम नहीं जानते हो ॥५ ॥

यहाँ का रहस्य यह है कि तीन ज्योतियाँ वैदिक क्रिया की आधार हैं जिनके आश्रय से तीन तरह के पदार्थ प्रकट होते हैं । पहला पदार्थ अध्यात्म से प्रकट होता है जो एक ही स्वरूप वाला है । दूसरा अधिदेव भाव से प्रकट होता है जो किसी निमित्त से होता है और निमित्त के पूरे होने पर लीन हो जाता है । तीसरा अधिभूत भाव से प्रकट होता है जो स्वाभाविक और शास्त्रीय दो प्रकार के कर्मों की प्रेरणा से आविर्भाव एवं तिरोभाव के प्रवाह में पड़ा रहता है । यह अपने वर्त्तमान जन्म एवं मरण को जानता है । देव भाव में दो विभाग हैं एक चित्प्रधान हैं जिसका देव शब्द से व्यवहार होता है और दूसरा सत्प्रधान हैं जो कि देवी शब्द से व्यवहार होता है ये दोनों ही अपने आविर्भाव एवं तिरोभाव को जानते हैं । इनका जीवों की तरह कर्माधीन जन्म और मरण नहीं होता है किन्तु विराट् शक्ति के वश निमित्त से आविर्भाव जन्म और तिरोभाव मरण कहा जाता है । इसी अपने आविर्भाव एवं तिरोभाव को समस्त देव देवियों की शक्तियों के विराट् आश्रय भगवान् श्री कृष्ण स्मरण करते हैं अत एव कहते हैं मैं इनको जानता हूं । किन्तु कर्मों की प्रेरणा से जन्म तथा मरण के प्रवाह में पड़े हुए तुम इनको नहीं जानते हो । ६

अब उस निमित्त विशेष को दिखाते हैं कि मैं जन्म रहित एवं सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर हूं तब भी अपनी प्रकृति का निरतिशय अखण्ड ऐश्वर्यरूप स्वभाव का अधिष्ठान आश्रयण करके अपनी योग माया से प्रकट होता हूं ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बालक्रीड़ा

हे भारत ! भा माने ज्ञान उसमें रत संलीन अथवा हे भरतवंशोद्भव सत्कुलीन ! जब जब धर्म क्षीण होता है और अधर्म की उन्नति होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूं यानी अवतार धारण करता हूं । ७

वैदिक धर्मानुष्ठानशीलों की रक्षा के लिए दुर्जनों के नाश के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ। यहाँ युग-युग इस तरह युग शब्द का दो बार उपन्यास करने का आशय है कि सभी युगों में जब जैसा अवसर आता है उसी समय अवतरित होता हूं । ८ ।

हे अर्जुन ! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म यानी देव भाव से होने वाले आविर्भाव को एवं कर्म को यानी विराट् शक्ति के आविर्भावकों के पोषण और उस शक्ति के तिरोभावकों के मोपण करने को जो पुरुष तत्वतः जानता है वह देह को त्याग देने पर भी फिर जन्म नहीं लेता है किन्तु वह मेरे में मिल जाता है ॥ ९ ॥

राग विषयों में प्रेम माने तृष्णा, भय अपने उच्छिन्न हो जाने की आशंका अथवा ज्ञान मार्ग में सर्व विषयो के परित्याग कर देने से जीवन के निर्वाह के विषय का त्रास एवं क्रोध अपनी और दूसरे की पीड़ा के हेतु अभिज्वलन अथवा सर्व विषयों का उच्छेदक यह ज्ञान मार्ग हितकारी कैसे होगा इत्यादिरूप द्वेष जिनका विमाने विवेक से इत माने गत हो गया हैं। जो मन्मय है मेरे स्वरूप में मग्न हैं और जो मेरा आश्रय करने वाले हैं ऐसे बहुत से लोग ज्ञानरूपी तप से यस्य ज्ञानमयं तपः के

वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

बालक्रीड़ा

अनुसार आलोचन करके पवित्र हुए (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) मेरे स्वरूप हो गये । यहाँ का भाव यह है कि जैसे निमित्तवश मैं शरीरधारी होकर क्रीडा करता हूं वैसे ही इन शरीरधारियों में जिनको मेरा साक्षात्कार हो जाता है वे मुझको जानकर मेरे समान वैभव वाले हो जाते हैं ॥ १० ॥

हे पार्थ ! जो मनुष्य जिस प्रकार मेरे मे प्रपत्ति करते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार से भजता हूं । जिसके फलस्वरूप सभी मनुष्य मेरे बतलाये हुए मार्ग का अनुवर्त्तन करते हैं ॥ ११ ॥

इस लोक में कर्मों की सिद्धि को चाहने वाले लोग देवताओं का यजन करते हैं । क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि शीघ्र ही होती है ॥ १२ ॥

चारों वर्णों के हितकारी कर्मों को गुणों के आधार से मैंने अलग-अलग रचा । यहाँ गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण मैंने रचे हैं । अथवा अमुक वर्ण के ये गुण हैं और ये कर्म हैं इस तरह विभक्त गुणों वाले और विभक्त कर्मों वाले चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की है । ऐसी व्याख्या सभी व्याख्यताओं ने की है जो नितान्त भ्रान्ति पूर्ण है । क्यों कि यहाँ वर्णों की सृष्टि का निर्देश करना नहीं है यहाँ तो कर्मों के विषय में निर्देश करना है । इस तरह कर्मों सृष्टि का कर्ता मैं हूं किन्तु विकारों से रहित होने से मुझको अकर्ता भी जानो । अर्थात् इन गुणहेतुक एवं कर्मों को कर्ता होने की शक्ति

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

बालक्रीड़ा

मैं देता हूं अतः मैं कर्त्ता हूं और कर्म क्रिया मेरे को स्पर्श नही करती है अतः मैं अकर्ता हूं अव्यय हूं ॥ १३ ॥

मुझें कर्म स्पर्श नहीं करते हैं अतः सृष्टि रूपी कर्म को करता हुआ भी मैं कर्त्ता नहीं हूं। यानी वे कर्म मुझको बन्धन में नहीं रख सकते हैं। प्रश्न नऐसा क्यों है। उत्तर। कर्म उसी को बांधते हैं कर्मो का सम्बन्ध कर्मों का लेप माने स्पर्श उसी को होता है जिसको कर्मों के फल की इच्छा हो। किन्तु जब मुझे कर्मों के फल की इच्छा ही नहीं है तब मेरा इन कर्मों के द्वारा बन्धन में उलझाना कैसे संभव है यानी असम्भव है इतना ही नहीं किन्तु जो मुझको इस प्रकार पहचान लेता है। वह भी कर्मों के बन्धन में नहीं आता है। १४।

इस प्रकार का मैं हूं ऐसा समझकर ही प्राक् काल के मुमुक्षुओं ने कर्म किये। केवल प्राक् काल के ही मुमुक्षुओं ने कर्म किए ऐसी बात नहीं है आज भी वहीत है अतः प्राचीनों के किये हुए कर्म को तुम भी करो। १५।

अर्जुन पूछता है कि हे भगवन्! आप कहते हैं कि कर्म को अकर्म में संग मत करो। परन्तु मैं यह ही नही जानता हूं कि कर्म क्या है अकर्म क्या है। उत्तर। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हारी तो गति ही क्या है। इस कर्म एवं अकर्म के प्रपञ्च ने कवि लोगों को भी व्यामोह में डाल दिया है। इस लिए मैं तुम को उस कर्म को समझाता हूं जिसको जानकर तुम अशुभ से छुटकारा पा जाओगे। १६।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

बालक्रीड़ा

कर्मों की गति बड़ी गहन है। अतः जिस कर्म को करना है उस कर्म के स्वरूप को जानना चाहिए। अकर्म के भी स्वरूप को जानना चाहिए जिसका त्याग करना है। और विकर्म के स्वरूप को अवश्य जानना चाहिए जो कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य के मेल से विचित्र स्वरूप वाला हो गया है। क्योंकि किसी अवस्था में कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य के स्वरूप को धारण कर लेता है जैसे बहुत से प्राणियों का वध जहाँ होता हो वहां सत्य जो अवश्य कर्त्तव्य है वह भी अकर्त्तव्य हो जाता है। किसी अवस्था में अकर्त्तव्य भी कर्त्तव्य बन जाता है जैसे ज्ञानी का शुभ सन्तान के वास्ते भार्या का सेवन करना। अतः कहा जाता है कि प्रभु जी कर्म की गति कर्म का ज्ञान होना बहुत गहन है। बड़ा कठिन है। १७।

जो मनुष्य कर्म में कर्त्तव्य में अकर्म को अकर्त्तव्यांश को पहिचानता है और अकर्त्तव्य में कर्त्तव्यांश को पहिचानता है वह बुद्धिमान् है युक्त योगी है। सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है। यह कर्म तत्त्व के ज्ञान का माहात्म्य है।

कर्म और अकर्म दोनों दश प्रकार के हैं। दान परित्राण और परिचर्या ये तीन शारीरिक कर्म हैं। सत्य हित माधुर्य एवं स्वाध्याय ये चार वाचिक कर्म है दया सन्तोष एवं आस्तिक्य ये तीन मानस कर्म है इस तरह ये दश शुभ प्रवृत्तियां हैं।

हिंसा चोरी एवं मैथुन ये तीन शारीर अकर्म हैं। मिथ्याभाषण अहित-भाषण कटुभाषण एवं असम्बद्ध भाषण ये चार वाचिक अकर्म हैं। परद्रोह-चिन्तन द्रव्याभीप्सा तथा नास्तिक्य ये तीन मानस अकर्म है! इस तरह ये दश अशुभ प्रवृत्तियां हैं। इन सब का मिलान करके कल्याणमयी स्थिति के लिए विशिष्ट

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणंतमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ २१ ॥

बालक्रीड़ा

कल्पना करे । क्योंकि कहीं पर कर्मों को अकर्म समझकर त्याग करना है कहीं पर अकर्मों को कर्म समझकर अनुष्ठान करना हैं । इस लिए कर्म की गति को गहन कहा है । जिसके कारण कवियों को भी मोहित होना पड़ता है । १८ ।

जिस कर्मयोगी के सम्पूर्ण कर्म कामना से रहित है और कामना से वासना से किए गये संकल्पों से वर्जित हैं तथा जिसके कर्मबन्धन ज्ञान रूपी अग्नि से जलकर भस्म हो गये हैं । उसको तत्त्वज्ञ लोग पण्डित कहते हैं । १९ ।

जो कर्मयोगी कर्म और उसके फल की आसक्ति को कर्तृत्वाभिमान एवं भोगाभिलापको छोड़कर नित्य तृप्त एवं निराश्रय रहता है वह कर्म में प्रवृत्त हुआ भी माने कर्म को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है । अर्थात् नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है । २० ।

पहली दो स्मृतियों द्वारा शास्त्रीय कर्म के लोकोपकार बुद्धि से करनेका प्रकार वतलाया । अब जो योगी निराशी है सांसारिक विषयों की इच्छा नही करता है आत्मा के चिन्तन में एकाग्रचित्त हुआ बाह्य इन्द्रिय सहित शरीर परिग्रह रहित है लौकिक सामग्री नही रखता है वह केवल शरीर से करने लायक और शरीर स्थिति के निमित्त शौच स्नान संध्या एवं भोजनादि कर्म करता हुआ भी किल्विष का भागी नही होता है । २१ ।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

बालक्रीड़ा

उसी प्रकार को कहते हैं कि विना चेष्टा किये मिलने वाले लाभ को यदृच्छा लाभ कहते हैं। जो यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट है, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों की परवाह नही करता है, दूसरे के सुखमय जीवन को देख सुनकर क्लिशित नही होता है क्लेश का अनुभव नहीं करता है। तथा सिद्धि एवं असिद्धि में सम एकरूप रहता है वह कर्म करके भी बन्धन को नही प्राप्त होता है। २२।

जिसका चित्त आत्मज्ञान में दृढ है जो विषयों के संग से रहित है एवं जो जीवन्मुक्त योगी है वह यज्ञ के लिए कर्म करता है उसके वे समग्र कर्म लीन हो जाते हैं। २३।

पहले केवल विद्वान् के लिए कर्म करने की प्रक्रिया को बतलायी थी अब जो विद्या धन एवं बल इन तीनों गुणों से सम्पन्न है विद्वान् है धनी है एवं बलवान् है उसके लिए ज्ञानी की अवस्था में लोक संग्रह के लिए कर्म करने की प्रक्रिया को बतलाते हैं। अर्पण यानी अर्पण के करण स्रुक् स्रुवा मन्त्र ऋत्विक् समिधा आदि यावत् साधन सब ब्रह्म हैं। वैदिक विधान से संस्कृत आज्य पुरोडाश आदि हवि हवनीय द्रव्य ब्रह्म है। हवि का आधार अग्नि ब्रह्म है। हवन कराने एवं करने वाले अध्वर्यु होता एवं यजमान ब्रह्म है। इन अध्वर्यु आदि के द्वारा किया जानेवाला जो हुत है हवन है वह ब्रह्म है। उस हुत से गन्तव्य प्राप्तव्य फल ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञेय है ब्रह्म ही प्राप्य है अतः ज्ञान का विषय और प्राप्ति का लक्ष्य

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

बालक्रीड़ा

ब्रह्म कर्म है उस ब्रह्म मे जिस की समाधि लग जाती है वह व्यक्ति ब्रह्म कर्म समाधि है। उस व्यक्ति के द्वारा गन्तव्य गमनीय स्थान भी ब्रह्म ही है दूसरा कोई नही है। इस तरह कर्त्ता कर्म करण सम्प्रदान (उद्देश्य) अपादानन सम्बन्ध एवं अधिकरण सव कुछ ब्रह्म है। २४ ॥

कोई कर्मयोगी लोग इन्द्रादि देवों का पूजन यजन जो दैव यज्ञ है उसका पर्युपासन अनुष्ठान करते है यानी देवताओं के पूजन को ही यज्ञ मानते हैं। सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है। विज्ञान आनन्द ब्रह्म है साक्षात् प्रत्यक्ष जो ब्रह्म है। जो आत्मा सव का अन्तर्यामी है इत्यादि वचनों से जिसको संसार के सम्पूर्ण धर्मो से वर्जित वतलाया है और नेति नेति इत्यादि के द्वारा जिस की समस्त विशेषताएँ निरस्त हैं ऐसे निरुपाधिक पर ब्रह्म के रूप से जो सोपाधिक आत्मा का जीव का महात्मा लोग दर्शन करते हैं वह दर्शन ब्रह्माग्नि में होम है। यद्यपि इसका निरूपण "ब्रह्मार्पणम्" में हो गया है तद्यपि यह पुनरुक्ति नही हैं क्योंकि तदपेक्षया विलक्षण कथन यहाँ है। २५ ।

केवल विद्यावल सम्पन्न कोई योगी लोग श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का संयमाग्नि में होम करते हैं और शब्दादि विषयों का इन्द्रियाग्नि में होम करते हैं। अर्थात् योगी लोग इन्द्रियों को एक २ विषय पर धारणा ध्यान एवं समाधि के द्वारा वश में करते हैं। "त्रयमेकत्र संयमः" इस योग सूत्र के अनुसार धारणादि तीनों का किसी एक विषय में लगाना संयम है। अतः श्रोत्रादि का शब्दादि विषयों से प्रत्याहार करना संयम यज्ञ है। कोई लोग समाधि से उठे हुए व्यक्ति इन्द्रियों से अप्रतिषिद्ध विषयों के ग्रहण करने को आहुति समझते हैं। यही उनका इन्द्रियाग्नि में विषयों का होम है।

श्रेयको प्राप्त कराने वाले जितने कुछ साधन हैं उन सबको यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ गौण एवं मुख्य भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें मुख्य यज्ञ वे है जहां मंत्रो च्चारण पूर्वक आहुतियों का अग्नि में प्रक्षेप होता है। उससे अन्य सब यज्ञ गौण है। उन में गौण यज्ञों को बतलाते हैं। हृदय कमल में मनको चिरकाल तक धारण करना स्थिर करना धारणा कहलाती है। इस प्रकार स्थिर किये हुए चित्त की किसी एक विषयिणी वृत्ति के प्रवाह को ध्यान कहते है इसमें अन्य विषयक ज्ञान के होने से उक्त प्रवाह में व्यवधान भी होता है। जहां अन्य विषयक ज्ञान के व्यवधान से रहित सजातीय प्रत्यय प्रवाह होता है वह समाधि होता है। ध्यान में और समाधि में कुछ अन्तर यह है कि ध्यान में विजातीय प्रत्यय के होने से व्यवधान भी हो सकता है समाधि में उक्त व्यवधान बिलकुल नही है। वह समाधि चित्त की भूमियों के भेद से दो प्रकार की है। एक संप्रज्ञात दूसरी असंप्रज्ञात। जिन में चित्त की क्षिप्त १ मूढ २ विक्षिप्त ३ एकाग्र ४ एवं निरुद्ध ५ ये भूमियां हैं। उनमें राग विषयों के प्रति तृष्णा एवं द्वेष विषयों के प्रति क्रोध के वशी भूत चित्त का विषयों में जो अभिनिवेश है उसका नाम क्षिप्त है। तन्द्रा आलस्या आदि से ग्रस्त चित्त मूढ है। सर्वदा विषयों में आसक्त हुआ भी कदाचित् ध्यान निष्ठ हो जाता है अतः क्षिप्त की अपेक्षा विशिष्ट विक्षिप्त कहलाता है। इनमें क्षिप्त और मूढ की समाधि होना तो दूर है समाधि की शंका भी नही हो सकती है। विक्षिप्त चित्त में तो कदाचित् समाधि हो सकती है किन्तु विक्षेप की प्रधानता के कारण उसको योग नही कह सकते हैं। क्योंकि जैसे वायु के वेग से दीपक शान्त हो जाता है उसी तरह विक्षेप से समाधि नही बन पाती है। या कहना चाहिए कि नष्ट हो जाती है। एक किसी भी विषय में धारा वाहिक वृत्ति करने में समर्थ चित्त को एकाग्र कहते है। इस में आत्माकारा वृत्ति होती है क्योंकि सत्व के उद्रेक के कारण तमोगुण के कार्य तन्द्रा निद्रा एवं आलस्य आदि के द्वारा चित्त के लीन हो जाने का भय नही है। अतः वह वृत्ति रजो गुण के कार्य चाञ्चल्य एवं विक्षेप के नही होने से एक विषया ही होती है। फलतः शुद्ध सत्वगुण के प्रभाव से चित्त एकाग्र होता है। इस भूमि में संप्रज्ञात समाधि लगती है। इस समाधि में ध्येयाकारा वृत्ति भी होती है। उस के भी निरोध करने पर चित्त

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिअते ॥ २७ ॥

बालक्रीड़ा

को निरुद्ध कहते हैं यह निरुद्ध चित्त असंप्रज्ञात समाधि का भूमि है । इसी असंप्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते है । यही समाधि धर्ममेघ कहलाती है । क्योंकि सभी तरह से विरक्त होने वाले अत एव समाधि जनित सुख की भी परवाह नही करने वाले योगी का चित्त दृढ भूमि हो जाता है ।

इन क्षेप मोह एवं विक्षेप रूप धर्मों के नहीं होने तथा एकाग्रता एवं निरोधरूप धर्मों के होने से चित्त धारणा ध्यान समाधि का निर्वाह करता है । इस तरह योग के बल से सम्पूर्ण इन्द्रियों के नियमन को संयमाग्नि में इन्द्रियों के हवनरूप यज्ञ को कहा । यह समाधि की स्थिति है । समाधि से उठने पर व्युत्थानावस्था में राग एवं द्वेष से रहित होकर विषयों का उपयोग दूसरा यज्ञ है । २६ ।

इस प्रकार इन्द्रियों के संयम को और संयत इन्द्रियों से अविरुद्ध विषयों के ग्रहण को यज्ञ बतलाया । अब इन्द्रियों एवं प्राणों के कर्मों के संयम को यज्ञ कहते हैं । अपर योगी ज्ञान से दीपित आत्मविषयक संयम रूप योगाग्नि में इन्द्रियों एवं प्राणों के सम्पूर्ण कर्मों का चेष्टाओं का हवन करते हैं । अर्थात् आत्मा के विषय में किये गये धारणा ध्यान एवं समाधि रूप संयम के बल से इन्द्रियों एवं प्राणों की चेष्टाओं का त्याग करते हैं । यहां का रहस्य यह है कि पातञ्जल के मत के अनुसार समाधि एवं व्युत्थान इन दो प्रकार के यज्ञों को श्रोत्रादीनि इस श्लोक से कहा । अब ब्रह्मवादी के मत के अनुसार व्युत्थानशून्य किन्तु सर्वफल भूत समाधि रूप यज्ञ को कहते हैं । इन का मत है कि समाधि दो प्रकार की होती है एक लय पूर्वक समाधि दूसरी बाध पूर्वक समाधि । उनका कहना है कि कारण से व्यतिरिक्त कार्य की सत्ता नही है कार्य का केवल कहने भर के लिए नाम है वस्तुतः कार्य कुछ नही है ।

जैसे पंचीकृत पंचमहाभूतों से जन्य व्यष्टि जगत् समष्टि रूप विराट का कार्य होने से उससे व्यतिरिक्त नही है। पंचीकृत पंचमहाभूतात्मक समष्टिरूप विराट् भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से उससे अतिरिक्त नही है पञ्चमहाभूतों में भी शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध नामक पांचगुणों वाली पृथिवी गन्धेतर चारगुणों वाले जल का कार्य है अतः जल से पृथक् नही है। उक्त चार गुणों वाला जल भी गन्ध एवं रस रहित तीनगुणों वाले तेज का कार्य है अतः तेज से पृथक् नही है। उक्त तीन गुणों वाला तेज भी गन्ध रस एवं रूप रहित दो गुणों वाले वायु का कार्य है अतः वायु से अलग नहीं है। दो गुणों वाला वायु भी केवल शब्द रूप एक गुण वाले आकाश से जन्य है अतः आकाश से अलग नही है। एक गुण वाला आकाश भी (एकोऽहं वहु स्याम्) एक हूं अतः वहुत हो जाऊं ऐसे संकल्प वाले परमेश्वर के संकल्पात्मक अहंकार का कार्य है अतः अहंकार से अलग नही है। वह संकल्पात्मक अहंकार भी परमेश्वर का माया को ईक्षण करने रूप महत् तत्व का कार्य है अतः महत्तत्व से पृथक् नही है। वह ईक्षण रूप महत्तत्व भी माया का कार्य है अतः माया से अलग नही है और वह कारण भूत माया भी जड होने से चैतन्य में अध्यस्त है अतः चैतन्य से अतिरिक्त नही है। इस प्रकार के अनुसन्धान से कार्य कारणात्मक प्रपञ्च के रहने पर भी केवल चैतन्य का ही समाधि में भान होता है अतः जिस समाधि में केवल चैतन्य का ही भान होता है वह समाधि लयपूर्वक समाधि कहलाती है। क्यों कि केवल चैतन्य को विषय करनेवाली समाथि में कार्य कारणात्मक प्रपञ्च्च का लय हो जाता है परन्तु 'तत्वमसि' आदि वेदान्त के महावाक्यों से होने वाले ज्ञान के नही होने से अविद्या और उसके कार्य अभी क्षीण नही हुए हैं। इस तरह कारण के अवशिष्ट रहने से पुनः कार्य कारणात्मक प्रपञ्च का उदय हो सकता है। अतः सुषुप्ति के जैसी यह सवीज समाधि मुख्य नही है। मुख्य तो निर्वीज है जो अतः वाधपूर्वक समाधि है। जहां 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ के ज्ञान के हो जाने से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और अविद्या की निवृत्ति के हो जाने से सर्गक्रम से अविद्या के कार्यो की भी निवृत्ति हो जती है

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

जिसके फलस्वरूप अविद्या के पुनः उत्थान के अभाव से अविद्या के कार्यों के पुनः उत्थान की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इसी निर्बीज बाधपूर्वक समाधि को ही इस श्लोक से दिखाया है । २७ ।

कुछ लोग द्रव्ययज्ञ होते है जो यज्ञ बुद्धि से शास्त्रोक्त विधान के अनुसार द्रव्य का दान देते हैं। कुछ तपस्वी तपोयज्ञ होते हैं जो कृच्छ्र चान्द्रायणव्रत तथा तिथि वार एवं नक्षत्र के अनुसार उपवास और पञ्चाग्नि सेवन तप को ही यज्ञ मानते हैं। अन्य व्यक्ति योग यज्ञ हैं जो चित्तवृत्ति निरोध रूप अष्टाङ्गयोग को यज्ञ मानते हैं। ये लोग योग के यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान एवं समाधि इन आठ अङ्गों के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं। इनमें प्रत्याहार को 'श्रोत्रादीनि' इस पद्य में कह चुके हैं। धारणा ध्यान समाधि को आत्म संयम योगाग्नौ श्लोक मे बतला दिया है। और प्राणायाम को अपाने जुह्वति प्राणम् इस आगे वाले श्लोक में कहेंगे। यम नियम एवं आसन को यहां कहते हैं।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। शौच सन्तोष तप स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम है। स्थिर एवं सुखकारी स्थान का नाम आसन है। जो पद्मासन स्वस्तिकासन मयूरासन शिर आसन आदि अनेक प्रकार के हैं। अपरिग्रह देहयात्रा के निर्वाहक साधनों से अधिक भोग के साधनों का लेना परिग्रह है। परिग्रह का विरोधी अपरिग्रह तप भूख प्यास गरम ठण्डा तथा सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहना एवं काष्ठमौन और आकारमौन। इनमें इङ्गित से भी अपने अभिप्राय को नही बतलाना काष्ठमौन है। केवल नही बोलना आकार मौन है।

कुछ लोग स्वाध्याय को ही यज्ञ मानते हैं वे स्वाध्याय यज्ञ हैं। तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशुचिर्यद्देशः। इस श्रुति में बतलायी हुई अपने आप की अशुद्धि और स्थान आसन की अशुद्धि इन दो अशुद्धि रूप अनध्यायों

को छोड़कर सर्वदा शास्त्र का पारायण करना ही हमारा यज्ञ है ऐसा मानकर जो नियम से अध्ययन विधि को करते हैं वे स्वाध्याययज्ञ हैं। जो शास्त्रों के अर्थों का परिशीलन करना ही यज्ञ मानते हैं वे ज्ञानयज्ञ है अर्थज्ञ पुरुष ही ज्ञानयज्ञ हैं। ये सभी लोग यति हैं माने यत्नशील हैं एवं सम्यक् शित तीक्ष्ण व्रत धारो हैं। मधुसूदन सरस्वती संशित व्रत यज्ञ नाम से एक भेद को अलग मानते हैं। उनकी व्याख्या है—

दूसरे यज्ञ को कहते हैं जो यति यत्नशील संक्षितव्रत हैं। जिनके व्रत सम्यक् शित माने तीक्ष्ण अत्यन्तदृढ है वे संशितव्रतयज्ञ हैं। भगवान् पतञ्जलिने लिखा है कि वे जाति देश काल एवं समय से अनवच्छिन्न असम्बद्ध, सार्वभौम महाव्रत हैं। पहले जो अहिंसा आदि पांच यज्ञ व्रत लाये हैं वे ही जब जाति आदि के अवच्छेद से शून्य होते हैं तब दृढ भूमि महाशब्द से वाच्य हैं। उनमें अहिंसा जाति से अवच्छिन्ना जैसे-शिकारी की प्रतिज्ञा कि मैं मृगों के सिवाय किसी को भी नही मारुँगा। वही अहिंसा काल से अवच्छिन्ना जैसे-चतुर्दशी या किसी भी पुण्य दिन में किसी को भी नही मारूँगा। वही अहिंसा देश से सम्बद्धा जैसे तीर्थ में किसी जीव को नही मारूँगा। वही अहिंसा प्रयोजनविशेषरूप समय से सम्बद्धा जैसे क्षत्रिय की प्रतिज्ञा कि मैं ब्राह्मण एवं देवता के उपयोगी प्रयोजन के सिवाय अन्य किसी प्रयोजन के लिए हिंसा नही करूँगा। युद्ध के सिवाय अन्यत्र नही मारूँगा। विवाह आदि से अतिरिक्त प्रयोजन के लिए झूठ नही बोलूंगा। आपत्काल से अतिरिक्त काल में भूख एवं किसी प्रकार के भय से अतिरिक्त स्थिति में चोरी नहीं करूँगा। ऋतु से अतिरिक्त काल में पत्नी गमन नही करूँगा। इसी प्रकार गुर्वादि के प्रयोजन के सिवाय प्रयोजन के लिए परिग्रह नही करूँगा इत्यादि सम्बन्धों को छोड़कर जब सम्पूर्ण जाति सम्पूर्ण देश सम्पूर्णकाल सम्पूर्ण प्रयोजनों में होनेवाले सार्वभौम अहिंसादि होते हैं जिनका पालन महान् प्रयत्न से किया जाता है तब वे अहिंसादि महाव्रत शब्द से वाच्य होते हैं। इसी प्रकार काष्ठमौन आदि बातों को भी समझना चाहिए। ऐसे व्रतों की दृढता हो जाने पर नरकों के द्वार काम क्रोध लोभ मद मात्सर्य मोह इन की निवृत्ति हो जाती है।

उनमें क्षमा कर देने से और हिंसा के भाव को छोड़ देने से क्रोध की निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्मचर्य से और वास्तविक विचार से यानी वस्तुतत्त्व या वस्तु स्थिति के विचार से काम की, सत्य से एवं यथार्थज्ञान रूप विवेक से मोह की एवं चोरी नहीं करने और परिग्रह नही करने रूप सन्तोष से लोभ की शील एवं विनय की सुरक्षा से मद एवं मात्सर्य की निवृत्ति हो जाती है। इनकी निवृत्ति होने पर इनसे होने वाले सभी तरह के दोषों से छुटकारा मिल जाता है।

इसी लिए कहा जाता है कि "षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता" भूति को ऐश्वर्य को चाहने वाले पुरुष को ये छः दोष छोड़ देने चाहिए। ये दोष मनुष्य के पतन के कारण हैं।

वस्तुतस्तु "यतयः संशितव्रताः" ये विशेषण हैं। विशेष्य नहीं हैं अत एव संशितव्रत यज्ञ या महाव्रतयज्ञ नामक अलग कोई भेद नही है। क्योंकि ये यज्ञ सब मिलाकर १२ होते हैं जो द्रव्ययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ के ही भेद एवं उपभेद होते हैं। जैसे द्रव्ययज्ञ तीन प्रकार से किये जाते हैं। एक है प्राणिमात्र में विराजमान वैश्वानर के उद्देश्य से शास्त्र विधि के अनुसार पदार्थ का त्याग करना जो दान नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा उस वैश्वानर को उसकी प्रतिमा स्थण्डिल वेदी एवं कुण्ड आदि में विराज कर शास्त्रोक्त विधान से संस्कृत द्रव्य को आहुति के रूप से प्रक्षेप करना जो यजन शब्द से कहा जाता है। तीसरा इन दोनों का संमिश्रण। इन यज्ञों को स्वयं करना या दूसरों से कराना। इस प्रकार द्रव्य यज्ञ के छ भेद होते हैं। इसी तरह ज्ञान यज्ञ भी अर्थज्ञानमात्र अथवा शब्दाभ्यास पूर्वक अर्थज्ञान अथवा संयम (त्रयमेकत्र संयमः इस पातञ्जल निर्देश के अनुसार धारणा ध्यान एव समाधि) यज्ञ के भेद से तीन प्रकार का होता है। इसके भी उद्देश्य भूत उपास्य की सबीज एवं निर्बीज समाधि के बदौलत ६ भेद हो जाते हैं। इस तरह इन दोनों के मेल से १२ प्रकार के यज्ञों को अधिकारी भेद से कर्त्तव्य के रूप में भगवान् ने बतलाया है। प्रकृत में इनको दिखाने का प्रयोजन है आत्मज्ञान की परिपाक दशा में त्याग के स्वरूप का निर्णय अवश्य करना चाहिए। २८ ॥

अदाता वंशदोषेण कर्मदोषाद् दरिद्रता।
उन्मादो मातृदोषेण पितृदोषेण मूर्खता॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

बालक्रीड़ा

अब पूरक रेचक एवं कुम्भक रूप तीन भेद वाले प्रणायाम यज्ञ को कहते हैं। प्राण के माने प्राण की वृत्ति यानी प्राण के मुख एवं नासिका से वाहर निकलने रूप व्यापार को अपान में माने अपान की वृति यानी मुख एवं नासिका से वाहर निकलने वाले वायु का शरीर के भीतर से आकृष्ट कर लेने रूप अपान के व्यापार में जुह्वति परिणत कर देते हैं। अर्थात वाहर की वायु को शरीर के भीतर लेकर पूरक प्राणायाम करते हैं। अपान को माने अपान की वृत्ति यानी मुख एवं नासिका से वाहर निकलने वाले वायु का शरीर के भीतर आकृष्ट कर लेने रूप अपान के व्यापार को प्राण में माने प्राण की वृत्ति प्राण के मुख एवं एवं नासिका से वाहर निकलने रूप व्यापार में जुह्वति परिणत कर देते हैं। अर्थात् शरीर के भीतर आकृष्ट कर ली गई वायु को वाहर निकाल कर रेचक प्राणायाम करते हैं। इस तरह पूरक एवं रेचक प्राणायाम के के कहने से इनके विना नहीं रहने वाले कुम्भक को भी कह दिया अर्थात् यानी यथाशक्ति वाहिरी वायु को शरीर के भीतर आकृष्ट कर लेने के वाद किया जाने वाला श्वास एवं प्रश्वास का निरोध अन्तः कुम्भक कहलाता है। यथा शक्ति शरीर के भीतर आकृष्ट करली गई वायु का वाहर निकालने के वाद किया जाने वाला श्वास एवं प्रश्वास का निरोध वहिः कुम्भक कहलाता है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि मुख एवं नासिका से शरीर के भीतर आकृष्ट कर ली गई वायु का वाहर निकलना श्वास है। यही प्राण की गति कहलाती है। और वाहर निकलती हुई वायु का भीतरी प्रवेश प्रश्वास है। यह अपान की गति कहलाती है। इस पूरक में प्राण का गति का निरोध और रेचक में अपान की गति का निरोध होता है। किन्तु कुम्भक में इन दोनों गतियों का निरोध होता है। अतः इन श्वास एवं प्रश्वास नामक प्राण एवं अपान की गति को क्रमशः या एक साथ रोक कर प्राणायाम करने में जो परायण हैं तत्पर हैं वे प्राणायाम यज्ञ कह लाते हैं। अर्थात् उनका प्राणायाम ही यज्ञ है। २९।

अपर लोग आहार को विषयों के उपभोग को या उपयोग को नियत करके परिमित करके प्राणों का जिस वायु का जय नही किया है उस वायु का प्राणों में जीते हुए वायु के भेदों में होम करते हैं। अर्थात् वे अजित हुए भी वायु उसमें जीते हुए में प्रविष्ट होने पर जीते हुए के सदृश हो जाते हैं। अथवा वाह्य एवं आभ्यन्तर कुम्भक के अभ्यास से निगृहीत किये हुए प्राण वायु में प्राणों का अनिगृहीत वायु का हवन करते हैं। कुम्भक के अभ्यास से विनयन करते हैं।

भगवान् पतञ्जलि ने प्राणायाम का विधान इस तरह वतलाया है। आसन के स्थिर होने पर प्राणायाम को करना चाहिए। प्राण के धर्म श्वास या उच्छ्वास एवं अपान के धर्म प्रश्वास या निःश्वास की गति को माने पुरुष के प्रयत्न के बिना होने वाले स्वाभाविक प्रवाह को प्रयत्न के द्वारा क्रमशः या एक साथ रोकना प्राणायाम कहलाता है। उसमें प्राणों के प्रवाह का क्रमशः अवरोध करने में प्राणायाम के दो भेद होते हैं एक पूरक दूसरा रेचक। उन में पूरक वह होता है जिसमें प्राणों की वाह्यगतिका अवरोध होता है यानी शरीर के भीतर प्राणों को लेना है इस पूरक को यदि प्राणों के वाह्यगत्यवरोध को प्रधान मानें तब वाह्यवृत्ति कहेंगे। और यदि प्राणों का शरीर के भीतर लेने को आपूरण को प्रधान माने तब आन्तर वृत्ति कहेंगे। इसी तरह जिसमें प्राणों की आन्तरगति का अवरोध होता है यानी शरीर के वाहर प्राणों को निकालना होता हैं उसे रेचक कहते हैं। इसमें भी यदि प्राणों के आन्तर गत्यवरोध को प्रधान मानेगें तब रेचक को आन्तर वृत्ति कहेंगे और यदि प्राणों के शरीर के वाहर निकालने को रेचन को प्रधान मानेगें तब उस रेचक को वाह्य वृत्ति कहेंगे।

जहाँ श्वास प्रश्वास रूप प्राणों की उभयात्मिका गति का एक वार में ही अवरोध होता है उसे कुम्भक कहते हैं। इसमें न तो आपूरण होता है कि जिससे इसको पूरक प्राणायाम कहें और न रेचक होता है कि जिससे इसको रेचक कहें। किन्तु जैसे गरम लोहे के तवे पर छोड़ा गया जल सूखकर सब तरफ से संकुचित हो जाता है उसी तरह यह वहन शील प्राण वायु विधारक प्रयत्न के कारण अवरुद्ध होकर शरीर के भीतर ही सूक्ष्म रूप से अवस्थित हो जाता है अतः इसको कुम्भक कहते हैं।

अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ क्षपितकल्मशा: ॥ ३० ॥

बालक्रीड़ा

यह तीन प्रकार का प्राणायाम काल प्रमाण के अनुसार दीर्घ एवं सूक्ष्म होता है । निमेषण क्रिया में आखों के झपने में जितना समय लगता है उसका चौथा हिस्सा क्षण कहलाता है। यह निश्चय करना है कि प्राणायाम में कितने क्षण लगे । क्षण जानने का तरीका यह है कि अपने घुटने पर तीन हाथ फेर कर चुटकी बजाने में जितना समय लगे उसका नाम मात्रा है। उन छत्तीस मात्राओं से बने हुए प्रथम उद्घात की संज्ञा मन्द है । उन्ही मात्राओं को दूना करने यानी ७२ बहत्तर मात्राओं से बने द्वितीय उद्घात मध्य कहलाता है। उसीका तिगुना यानी १०८ मात्राओं से बना हुआ तृतीय उद्घात तीव्र कहलाता है। उद्घात का अर्थ है नाभि मूल से उडे हुए वायु का शिर में टकराना। समय के मान के जानने का यह एक प्रकार हुआ ।

समय के मानको जाननें का दूसरा प्रकार है कि नाभि से उठ कर हृदय से होते हुए वायु को नासा के अग्र भाग में १२ अंगुल तक पहुँचने में जितना समय लगे उससे काल का निर्धारण करना चाहिए। इसी तरह २४ अंगुल तक एवं ३६ अंगुल तक पहुँचनें में जितना समय लगता है । इत्यादि ।

समय के मानको जानने का तीसरा प्रकार है कि प्रणव जप की आवृत्ति से या शरीर के भीतर श्वासों के प्रवेश की गणना से समय का निर्धारण करना कि इतना जप करने में इतना समय लगा इतने श्वासों के भीतर में प्रवेश करने नें इतना समय लगा इत्यादि ।

इस प्रकार प्रतिदिन के अभ्यास से दिन पक्ष एवं मास के क्रमण रूप काल की अधिकता से दीर्घ प्राणायाम होता है। सूक्ष्म प्राणायाम तो परम निपुणता से मालूम पड़ता है ।

इस प्रकार बारह भेदों से बतलाये हुए यज्ञों के जानकार लोग यज्ञों से पापों का नाश करते हैं। ३० ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

बालक्रीड़ा

हे कुरुवंशियो में श्रेष्ठ ! यज्ञ के शेष रूप अमृत का भोजन करने वाले योगी लोग सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं या सनातन ब्रह्म में गमन करते हैं। अर्थात् पांचों आनन्दों का क्रम से अनुभव करते हैं। यज्ञ का माहात्म्य ऐसा है कि भोगानन्द १ विद्यानन्द २ योगानन्द ३ निजानन्द ४ एवं ब्रह्मानन्द ५ ये पांच महान् आनन्द यज्ञवर्त्ती सभी अधिकारियों को बराबर मिलते हैं। अन्वय की दृष्टि से यज्ञ एवं यज्ञ के लाभ को कहा। अत्र व्यतिरेक दृष्टि से यज्ञ के अभाव तदनुसार यज्ञ के लाभ के अभाव को कहते हैं कि जो अयज्ञ है अर्थात् इन बतलाये हुए यज्ञों में से एक भी यज्ञ को नही जानता है उसको जब सर्व साधारण यही लोक सिद्ध नही है तब विशिष्ट साधनों से साध्य अन्य लोकों का सिद्ध होना कैसे संभव है अर्थात् असम्भव है। यहां यज्ञशिष्टाशिनः इस द्वितीयाध्याय के १३ वें श्लोक के अर्थ को स्पष्ट किया है। ३१ ।

इस प्रकार के बहुत तरह के यज्ञ वेद के मुख में यानी वेद के आरम्भ में विस्तृत है। अर्थात् इनका आरम्भ वेद से हुआ है। इन सबको कर्म से माने अध्वर्यु ऋत्विक् होता एवं यजमान के द्वारा किये जाने वाले व्यापार से उत्पन्न हुए जानो जैसा कि तृतीय अध्याय के एवं १४ वें १५ वें श्लोक में कह आये हैं 'यज्ञः कर्म समुद्भवः। कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, इत्यादि। इनको समझकर विमुक्त हो जाओगे। इस ४ अध्याय के १० वें श्लोक में कहा है बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। इत्यादि इस प्रकार के ज्ञान से यानी कर्म के तत्त्व के जान लेने से कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जावोगे। ३२ ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

बालक्रीड़ा

हे परन्तप ! द्रव्यरूप यज्ञ से ज्ञान मय यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि हे पार्थ ! अखिल माने खिल प्रहृत नही हुए अर्थात् सावयव सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। विद्वान् ही यथार्थ यज्ञ कर सकता है और यथार्थ फल का भागी भी हो सकता है। क्योंकि ज्ञानी अनित्य असत्य जड एवं अशुद्ध द्रव्य पदार्थ छोड़कर ज्ञान को यज्ञ का साधन बनाता है। अतएव इस यज्ञ से शुद्ध बुद्ध नित्य सत्य चैतन्य परमात्मा का साक्षात्कार करता है यह यथार्थवाद है यह प्रशंसा नही है कि द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। ३३।

तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी लोग तुमको उस ज्ञान का उपदेश देगें। तुम प्रणाम पूर्वक उनकी सेवा करते हुए कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः इत्यादि प्रश्नों के द्वारा जानों। क्योंकि जिस ज्ञान से कर्मों की समाप्ति हो जाती है वह ज्ञान वेद के पढ़ने मात्र से स्वतः नही आता है। उसका उपदेश गुरुजन ही वात्सल्य भाव से कृपापूर्वक करते हैं। ३ ।

हे पाण्डव ! जिस आत्म ज्ञान के जान लेने के बाद तुमको ऐसा मोह नही होगा। जिस ज्ञान से तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में और आत्मा सहित सब को मेरे में देखोगे। ३५।

तुम यदि सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पापी होगे तब भी आत्मज्ञान रूपी नौका से सम्पूर्ण पापों को तर जावोगे !। ३६।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
श्रद्धावाँ लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

बालक्रीड़ा

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि सब काष्ठों को जला कर भस्म कर देती है उसी प्रकार यह आत्मज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है । ३७ ।

क्यों कि इन लोक में या इस शास्त्रों में ज्ञान के समान पावन साधन दूसरा नही है । उस ज्ञान को योगी पुरुष स्वतः काल के अनुसार प्राप्त कर लेता है।३८ ।

प्रशस्त श्रद्धाशाली पुरुष इन्द्रियों को अपने वश में करके ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाय तो अवश्य ही उसे वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इसके वाद ज्ञान का लाभ करके बहुत शीघ्र ही उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त कर लेता है । ३९ ।

जो तो मूर्ख है श्रद्धा रहित है और गुरुओं के दिये हुए उपदेश से जिसके चित्त में संशय होता हैं वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । क्यों कि संशयात्मा को न यह लोक है न पर लोक है । अथ च कहीं भी उसको सुख नहीं मिल सकता है ॥ ४० ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निवध्नन्ति धनंजय ! ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

बालक्रीड़ा

जिसने योग मार्ग की प्रक्रिया से कर्मों का संन्यास कर दिया है और जिसने ज्ञान रूपी तलवार से संशय वृक्ष को काट डाला हैं। ऐसे बुद्धिमान् मनुष्य को हे धनञ्जय ! कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते हैं। ४१।

इस लिए हे भारत ! अज्ञान बीज से हृदय में उत्पन्न हुए इस संशय वृक्ष को अपने ज्ञान रूपी तलवार से काट कर कर्म योग में आस्था करो और युद्ध के लिए खड़े हो जावो। हरिः ओं तत्सत् । ४२।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा में चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थाध्यायः समीक्ष्यते

मधुसूदनी

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संम्भवाम्यात्ममायया ।।

यः कोऽपि जायते जन्म गृह्णाति तस्य जन्मनः कारणं धर्माधर्मादिकं कर्म । भगवतस्तादृशकर्मणोऽभाव एव । अतः यः कदापि, केनापि प्रकारेण, कुतोऽपि वा न जायते स अज इति व्यपदिश्यते । एवं जन्मग्रहणाभावे अजोऽपि सन् अहं सम्भवामि जन्म गृह्णामि । निरवयः अवयवरहितः अतए व वि ाश तारणैरसंवध्नन् मम आत्मा स्वरूपं स्वभावत एव विकृतो नहि भवति न व्येति अतः अव्ययात्माऽपि सन् स्वरूपतोऽ विकृतोऽपि अहं स्वमायया संभवामि सावयवो भवामि विका ी भवामि । ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तानामीश्वरः नियामकः सर्वशक्तिसम्पन्नः सन्नपि अहं स्वस्याः प्रकृतेरधिष्ठानं सहारं लामि । इत्येवं सर्वशक्तिमति परस्परविरोधिनो धर्माः स्यातुं शक्नुवन्ति । अस्तु । परन्तु अत्र स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय स्व प्रकृतेः सहारं गृहीत्वा आत्ममायया सम्भवामि इत्येवं यत् प्रकृतिं मायाञ्च पृथक् २ कथयति तत्कथम् । यतः "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति श्रुतेरनुसारं माया तु प्रकृतिरेव । इयमेका गडवडी त्रुटिः । द्वितीया बृहती गडवडी इयम् । एवमुक्तौ अहं १ प्रकृतिः २ माया ३ इति त्रयाणां स्थितौ अद्वैतं कथं तत्तु भग्नम् । अतः सिद्धान्तहतिर्भवितुं शक्नोति ।

अत्रोत्तरन्ति । नासौ कापि त्रुटिः । यद्यपि वस्तुतोऽद्वैतं तद्यपि व्यवहारे भाट्टनय इति रीत्या केवलमद्वैतं नास्ति, प्रपञ्चोऽपि सति प्रपञ्चे द्वैतमपि ।

ननु उक्तश्रुतेः अनयोरेकत्वं परं नामनी द्वे । इति चेन्न । गीतासु सप्तमे नवमे अध्याये प्रकृतिर्द्विविधा । परा अपरा च । तत्राऽपरा अष्टविधा या जडा । परा सा जीवभूता चेतना । इयमेव दाधार पृथिवीं द्यां पातालञ्च । आभ्यां द्वाभ्यां माया भिन्ना भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं भिन्ना प्रकृतिरष्टधा अपरेयम् । इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम । जीवभूतां महाबाहोः ययेदं धार्यते जगत् । एतद्योनीति भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । पुनश्च— इति । ७ । ४ । ५ । ६

सर्वभूतानि कौन्तेय: प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् कल्पक्षये। पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

इति ९।७८।१०।

अत्रैव एकवार मुच्यते अहं कर्त्ता अहं भूतानि विसृजामि स्वां प्रकृतिमवष्टभ्य इति। द्वितीयवारमुच्यते "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं सूयते"। प्रकृतिः कर्त्री तृतीयवारमुच्यते कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते"। प्रकृतिः हेतुः साधनम् १३।१८। एवं भगवत उक्तिर्दुर्ज्ञेया। अस्तु। इयं कथा प्रकृतेः। सम्प्रति मायाया सा श्रूयताम्।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। इयं परमेश्वरस्य शक्तिरपि। सा वा ईशस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका। माया नाम महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्।

कश्चिद् "भगवतो लीलानुकूलामिच्छां मायां कथयति। इत्यादि। अस्या विद्या इत्यपि नाम। इमे महापण्डिता व्याख्यातारः कथं कथमपि अक्षरयोजनां कुर्वन्त्येव। शुद्धसत्वप्रधाना माया। मलिन सत्वप्रधाना अविद्या।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्माण्यतन्द्रितः
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।

अत्र तृतीयाध्यायस्य त्रयोविंशे २३ श्लोके उत्तरार्धगतः पाठस्तु समीचीनः। यतो हि यद्यहं सावधानः सन् कर्म नाकरिष्यम् तदि तदनुसारमन्ये जना अपि तथैव कर्म नाकरिष्यन्। न मिदं महदनुचितं स्यात्। अतः कर्मफलस्पृहारहितोऽपि लोक संग्रहार्थं कर्माचरामि। किन्तु—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः।

अस्य चतुर्थाध्यायीयैकादश श्लोकस्य पाठः किञ्चिन्न्यूनतां गाहते। यतो हि यो यथा मे प्रवृत्तिं करोति तस्याहं तथैव भजनं कुर्वे। अत्र प्रपद्यन्ते भजामि इत्यनयोः

प्रपदनभजनयोरेकप्रसरताया अभावाद् भङ्गः। अतः ये यथा मां भजन्तीह तांस्तथैव भजाम्यहम्। अथवा ये यथा मां प्रपद्यन्ते प्रपद्येऽहं तथैव तान्। एवं पाठः साधुः यो मह्यं गालीं ददाति अहमपि तस्मै गालीं ददामि यो मां मारयतुं प्रवर्ततेऽहमपि तं मारयितुं प्रवर्त्ते। एतादृशस्य मम वर्त्मनोऽनुसरणं मानवाः कुर्वन्ति। अर्थात् तैः सह यथा कश्चिद् व्यवहरति तेऽपि तथैव तेन सह व्यवहरन्ति। किन्तु भगवन्! एवं स्थितौ दया क्षमा तितिक्षा सहिष्णुता श्रद्धा सौजन्यसद्भावनादीनामौचित्यमुत्तमत्वं सर्वं धरातलतोऽपहस्तितं स्यात्। अच्छा रीतिर्भवद्भिरुद्भाविता स्यात्। जयतु भवान् जयतु।

अस्माभिस्तु भगवन्! एवं पठितम्—

निन्दनस्तवसत्कार न्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्! अविवेकेन कल्पितम्॥

देहाभिमान एव निन्दास्तुत्योर्ज्ञानं भवति। यतः तदभिमानेनैव अयं निजः, अयं परः इति विषमो भावो जायते। वैषम्यादेव परस्परं दण्डनं ताडनं पारुष्यं प्रवर्त्तते। तेन च हिंसापीडे स्तः। इमाः प्रक्रिया देहधारिषु। भवति तु वेद उद्-घोषणां करोति एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। अखिलात्मा भवान्। अभिमानस्य अभिमन्त-व्यस्य चाभावत् वैषम्यं नास्ति। इदमपि मातृपितृगुरुभ्यः श्रुतम्, यद रावणादीनां वधो भवता कृतः स वैर प्रतिशोधनार्थं नहि कृतोऽपितु तेषां विशुद्धये।

अन्यच्च यो यथा मया सह व्यवहरति अहमपि तेन सह तथैव व्यवहरामि इत्युक्तिः सान्तः कारणस्थैव भवितु मर्हति। भवानपि यदि सान्तःकरणस्तर्हि जीव-कोटौ प्रविष्टः।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। ४।१३।

अस्य श्लोकांशस्य व्याख्या सर्वैः व्याख्यातृभिः एकरूपतयैव कृता। यथाहि गुण कर्मणोः विभागशः चतुर्णां वर्णानां सृष्टिः मया कृता। एवं भिन्नान् २ गुणान् तथा भिन्नानि २ कर्माणि च अविभज्य चत्वारो ब्रह्मक्षत्रिय विट्शूद्रा वर्णा रचिता इति।

एवं हि मन्ये कूपे भङ्गा निततिता। तन्मिश्रितं कूपोदकं निपीयैव सर्वैः रेकादृशी व्याख्या कृता किन्तु सा १८ अध्यायीयौ ४०।४१ श्लोकौ विरुणद्धि। तद्यथा

न तदस्ति पृथिव्यां वाऽदिवि देवेषु वा पुनः। सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यास्त्रिभिर्गुणैः। ब्राह्मण क्षत्रि विशां शूद्राणाञ्च परन्तप ! कर्माणि प्रविक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः भगवान् मधुसूदनः कथयति। पृथिव्यां अदिवि द्यु भिन्ने पाताले देवलोके च तत्सत्वं नास्ति। यदेभिस्त्रिभिर्गुणैर्नुक्तं स्यात्। अर्थात् गुणयुक्तमेव सर्वम्। अतः हे परन्तप ! स्वभावप्रभवैर्गुणैः हेतुभिः ब्रह्मक्षत्रियविदशूद्राणां कर्माणि प्रविभक्तानि।

एववञ्च चातुर्वर्ण्यमित्यस्यापि व्याख्या एतदनुसारमेवोचिता। यस्मात् गीतासु आदि आन्तं क्वापि चतुर्णाम् वर्णानां सृष्टे निरूपणस्यावश्यकतैव न जागर्ति। अत्र तु कर्मणो भक्तेः ज्ञानस्य निरूपण प्रकरणं पदे पदे वर्त्तति। प्रकृते एतस्माच् 'चातुर्वर्ण्यम्' इति श्लोकादव्यवहितपूर्वस्मिन्।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धि यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धि र्भवति कर्मजा। अस्मिन् श्लोके कर्मणां सिद्धि वाञ्छन्तो जना देवान यजन्ते। 'हि यतः इह मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रमेव भवति। एवमिह कर्ममाहात्म्य निरूणं वर्त्तति। तथा अस्मात् चातुर्वर्ण्यम्' इति श्लोकादव्यवहितोत्तरेषु।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते। एवं ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्। किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात। एषु श्लोकेष्वपि कर्मैव निरूपितं। एवं प्राक् पश्चात् उभयत्र श्लोकेषु कर्माणां निरूपणादमिहापि चातुर्वर्ण्य चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो हितकारि गुणहेतुकं कर्म विभागशः सृष्टिमिति चतुर्वर्णोपयोगि कर्मणां विषये एव निर्देशः नकिः तेषां वर्णानामुत्पत्तेर्विषये।

तेषां वर्णानामुत्पत्ते र्वोधनस्य कोऽपि कीदृशोऽपि प्रसङ्ग एव नास्ति। अतः गड्डरिका प्रवाहेणैव सर्वेषां टीकाकारणा मिहेदृशी व्याख्या चतुर्णां वर्णानां सृष्टिर्मया कृतेनिरूपाऽसङ्गता भ्रान्तिपूर्णा प्रकरणविरुद्धा च। पूर्वापरग्रन्थानन्वयात्। गुण

कर्मविभागशः इति पदस्य समस्ततायां भ्रान्तौ सत्यां चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् इति पदयोरपि विभ्रात्। गीतासु पट्कत्रयं कर्मभक्तिज्ञानानामेव नतु चतुर्वर्णसृष्टे बोधना प्रकृत निति प्रतिकूलनाच्च। अष्टादशाध्याये वक्ष्यमाणस्याननुसंधानाच्च।

गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टिमिति व्याख्या सरला। चतुर्वर्णोपयोगि गुणहेतुकं कर्म विभागशः पृथक् पृथक् सृष्टमिति तत् क्लिशितमि सरलतायाँ प्रवृत्तेः तादृशी व्याख्या गतानुगतिकतया सर्वैः कृता।

ननु भोः! एकस्य तथा व्यामोहः सम्भाव्यते सर्वस्याऽपि तथा स इति कथमिति चेत् सन्नियोगप्रविष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः रिति स्वभावात् तथा स भवत्येव इति लोके शास्त्रे च परितो लक्ष्यते।

अन्यच्च सर्वसाधारण व्यक्तीनां सर्वसाधारणानि कर्माणि तथा ब्राह्मणादि चतुर्वर्णरूपविशिष्टव्यक्तीनां विशिष्टानि कर्माणि १८ अध्याये वक्ष्यते। तेषामपि हेतवः सत्त्वरजस्तमोरूपास्त्रयो गुणा एव। अतः गुणानां भेदात् चतुर्वर्णोपयोगिकर्मणामेव सृष्टि र्न तु चतुर्णां वर्णानां सृष्टिर्मया कृता। अयमेवार्थः इयमेव व्याख्या सर्वतः सङ्गतिं निर्भ्रान्ति प्रकृततांच्च भजतेऽतो नान्योऽर्थः, नान्या व्याख्या। च

नन्येवं न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुर्वक्त्या विरोधः स्यादिति चेन्न। जलेदं व्यष्टिस्थाष्टि विषयकं न कि समष्टि स्टष्टिविषयकम्। अन्यथा १८ अध्याये वक्ष्यमाण कर्म सृष्टेर्विरोधक स्यात्। इति।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।
अयं श्लोकः निर्भ्रान्तं।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

अस्य श्लोकस्य सदृशः। संसारी कुत्सितः व्यक्ति विशेषः मारकाटं लूटपाटं चोरीं कर्म ध्यायति। तदेव यः अकर्म ध्यायति स बुद्धिमान् अस्ति योगी वर्त्तते। कुत्सायां निमग्नः संसारी मातुः पितुः गुरोः देवानां ब्राह्मणानां महात्मनां संन्यासिनां सेवां पूजां वन्दनाम् अर्च्चनां अकर्म पश्यति। तदेव यः कर्म पश्यति स एव वस्तुतः सम्पूर्णकर्माणि कर्त्ता वहुत उचिता कर्मणो व्याख्या कृता वर्त्तते।

यज्ञायाचरतः कर्म।४।२३

इत्येवं यज्ञ प्रसङ्गे ब्रह्म दृष्टियज्ञः १ दैवयज्ञः २ ब्रह्मात्मैकत्वरूपसम्यग्दर्शनात्मको यज्ञः ३ सर्वेन्द्रिय निरोधयज्ञः ४ विषयोपभोगयज्ञः ५ द्रव्ययज्ञः ६

तपोयज्ञः ७ योग यज्ञः ८ स्वाध्याययज्ञः ९ ज्ञानयज्ञः १० प्राणायाम यज्ञः ११ संशितव्रत यज्ञः अथवा महाव्रत यज्ञः १२ एते द्वादश यज्ञा निरूपिताः एष ब्रह्म दृष्टि यज्ञः १ ब्रह्मात्मैकत्वरूप सम्यग्दर्शनयज्ञः २ ज्ञानयज्ञश्च ३ इमे त्रयो यज्ञाः पृथक् पृथक् न सन्ति। वस केवलः ज्ञान यज्ञ एव ऽस्ति। सर्वेन्द्रिय निरोध यज्ञः १ योग यज्ञः २ प्राणामयज्ञश्च ३ इमे त्रयोऽपि पृथक् पृथक् न सन्ति। वस केवलः योगयज्ञ एव एकोऽस्ति।

एषां यज्ञानां प्रसङ्गे यस्य यज्ञस्य निर्देशो बहुत आवश्यकः। यं भगवान् स्वयं कथयामास यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि इति दिशा, तं जपयज्ञं न निर्दिदेश गीताकारः इयमल्पता स्थितैव। यमाश्रित्य अन्यत्रापि उल्लेखो मिलति। तद्यथा-

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। यावन्तः कर्मयज्ञाः स्युः प्रदिष्टानि तपांसि च। इति। सर्वेते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्। कुतः षोडशीं कलां नार्हन्ति इत्यत्र हेतुः जपनिष्ठो द्विज श्रेष्ठोऽखिल यज्ञ फलं लभेत्। सर्वेषामेव यज्ञानां जायतेऽसौ महाफलः। जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति। प्रसन्ना विपुलान् कामान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम्। इति च। शास्त्राणां जपविषयेऽयं डिडिमघोषः— जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः। जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः हिंसादिदोषैः शुन्यस्य चित्तस्य शोधको व्यापारो जपः। जपदार्थश्च जप्यस्य हृदये उच्चारणम्। हृदयोच्चारणञ्च जिह्वोष्ठादीनां संचालनं विना शब्दार्थयोश्चिन्तनम् अयं जपः स्पष्टः १ उपांशुः शनैः शनैः २ मानसश्च ३ त्रिविधः। तत्र उत्तरोत्तरं फले ज्यायान्। इदन्तु बोध्यम्। व्यग्रचित्तो हतो जपः। अतः

मनः संहृत्य विषयान्मन्त्रार्थगतमानसः
न द्रुतं न विलम्बञ्च जपेन्मौक्तिकपंक्तिवत्।
आलस्यं जृम्भणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम्।
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपं जपकाले विवर्जयेत्। अन्योऽपि एकोंऽशः संहितः—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि-पूजनम्। इमे पञ्च महायज्ञाः यज्ञशिष्टामृतभुजः इत्यत्र निर्दर्शिताः।

एतदतिरिक्तौ कर्मज्ञध्यानयज्ञौ न कथितौ। शिवपुराणे वायुसंहितायां १८।८६।१०६ उक्तौ यपोयज्ञोज पयज्ञस्तदुत्तरः कर्मयज्ञस्त।
ध्यानयज्ञो ज्ञानयज्ञः पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिता इत्यादि।

इति चतुर्थाध्यायस्य समीक्षा सम्पूर्णतामगात्।

— ❁ —

चतुर्थ अध्याय की समीक्षा

बालक्रीड़ा

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया। ४। ६

जो जन्म के कारण धर्माधर्मादि के नही होने से कभी भी किसी भी प्रकार कहीं से भी पैदा नही होता है वह अज होता है। तदनुसार अज होता हुआ भी यानी पैदा होने वाला नही होता हुआ भी मैं सम्भवामि पैदा होता हूं।

निरवयव यानी अवयवों से रहित होने के बदौलत विकाश के हेतुओं से सम्बन्ध नही होने से मेरा आत्मा स्वभाव से विकृत नही होने वाला है इस लिए अव्ययात्मा होता हुआ भी यानी स्वरूपतः अव्यय विकृत नही होता हुआ भी मैं अपनी माया से संभवामि यानी सावयव बनता हूं और विकारी होता हूं।

ब्रह्मादि स्थावरान्त भूतों का ईश्वर माने नियामक एवं सर्वशक्ति सम्पन्न अधिप होता हुआ भी प्रकृति का अधिष्ठान यानी सहारा लेता हूं। इत्यादि सर्व-शक्तिमान् में परस्पर विरोधी धर्म हो सकते हैं। ठीक है।

किन्तु यहां जो प्रकृति और माया को अलग-अलग कहा कि मैं अपनी प्रकृति का सहारा लेकर अपनी माया से पैदा होता हूं यह कैसे क्योंकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्"। इस श्रुति के अनुसार माया तो प्रकृति ही है अलग नहीं है यह एक गड़बड़ी है। दूसरी बड़ी गड़बड़ी यह है कि मैं अपनी प्रकृति का सहारा लेकर अपनी माया से पैदा होता हूं। इस प्रकार पैदा होने में मैं १ प्रकृति २ और माया ३ इन तीनों की स्थिति होने पर अभेद कहाँ रहा वह तो भग्न हो गया। अतः सिद्धान्त हानि हो सकती है। यहाँ उत्तर देते हैं कि कुछ गड़बड़ी नहीं है क्यों कि वस्तुतः अभेद हैं फिर भी व्यवहारे भाट्टनयः के अनुसार व्यवहार काल में अभेद नहीं है। अतः प्रपञ्च भी है। प्रपञ्च हुआ तो भेद भी है।

माया और प्रकृति शब्द पर्याय भी है और भिन्नार्थक भी है। उक्ति श्रुति के अनुसार ये दोनों एक हैं नाम दो हैं। किन्तु गीता के ७ वें अध्याय के अनुसार प्रकृति माया से भिन्न है। और वह प्रकृति दो प्रकार की है एक अपरा और दूसरी परा। इनमें अपरा प्रकृति आठ प्रकार की है जो जड़ा है। परा प्रकृति जीव भूता है जीवरूपा है जो चेतन है। यही जगत को धारण किये हुए हैं। इन दोनों से माया भिन्न है। जैसे कि कहा है

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयम्। इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। इति।

यह प्रकृति का स्वरूप बड़ा विलक्षण हैं। बल्कि कहना चाहिये कि दुर्ज्ञेय है। क्यों कि फिर ९ वें अध्याय में भगवान् कहेंगे। कि

सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये; पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

परा प्रकृति मेरी है। जो जीव रूपा है। फिर कहते हैं कि प्रलय के समय सभी भूत मेरी प्रकृति में लीन होते हैं। मैं अपनी प्रकृति का सहारा लेकर इन समस्त भूतों को पैदा करता हूं। प्रकृति मेरी अध्यक्षता में चराचर जगत् को पैदा करती है यहाँ "प्रकृतिं यान्ति "प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य" "प्रकृतेर्वशात्" सभी भूत अन्त में प्रकृति में लीन हो जाते हैं। अतः फिर मैं अपनी प्रकृति का अवष्टम्भन करके कल्प के प्रारम्भ में पुनः उन भूतों की सृष्टि करता हूँ। इत्यादि रीति से मैं भूतों को पैदा करता हूं। परन्तु गीताकार ने इसी श्लोक में लिखा है कि मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर को पैदा करती है। यह क्या और कैसा लेख है

क्या कहा जाय। बड़ी दुर्ज्ञेय भगवान् की उक्ति है। अस्तु। आसुरी और दैवी दो प्रकृतियाँ और भी हैं यह कथा तो प्रकृति की हुई।

अब माया की कथा को सुनिये।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

यह दैवी प्रकाशस्वरूपा दुरत्यया जिसका अत्यय विनाश करना बड़ा मुश्किल है ऐसी त्रिगुणात्मिका मेरी माया है। इसको परमेश्वर की शक्ति श्रुति ने बतलाई हैं। जैसे

सा वा ईशस्य संद्रष्टुः शक्तिः सद सदात्मिका।
माया नाम महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्।

कोई लोग (लीलानुकूला भगवतः इच्छा माया) लीला करने की भगवान् की इच्छा को माया कहते हैं। यह भी कहा है कि शुद्ध सत्व प्रधाना माया। मलिन सत्त्व प्रधाना अविद्या। ये प्रकृति के ही भेद हैं।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः। ३।२३

यह ३ रे अध्याय के २३ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध का पाठ तो ठीक है। क्यों कि यदि मैं सावधान होकर कर्म नही करूंगा तो मेरे अनुसार और लोग भी कर्म नही करेंगे किन्तु ऐसा नही होना चाहिए। अतः मैं कर्म के फल की आकांक्षा नही होने पर भी लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूं। अस्तु। किन्तु—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः। ४।११

इस ४ थं अध्याय के ११ वें श्लोक का उत्तरार्द्ध जरा कमजोर है। क्यों कि जो मुझको जिस प्रकार प्रपन्न होता है यानी जो मुझसे जैसा भाव करता हैं मैं उसका उसी प्रकार भजन करता हूं। जो मुझे गाली देता है मैं भी उसे गाली देता हूं। जो मुझे मारता है मैं भी उसे मारता हूँ। मेरे इस मार्ग का सभी मनुष्य अनुवर्त्तन करते हैं अर्थात् इनके साथ जो जैसा व्यवहार करता है वे मनुष्य भी उससे वैसा ही व्यवहार करते हैं। ऐसी हालत में भगवन्! दया क्षमा

तितिक्षा सहिष्णुता, श्रद्धा, सौजन्य एव सद्भावना आदि का औचित्य एवं, उत्तमत्व सब धरातल से उठ जायेंगे। अच्छा मार्ग आपने दिखलाया। जय हो भगवान् आप की जय हो।

हमने तो भगवन्! यह पढ़ा है कि—

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधान परयो राजन्नविवेकेन केवलम्।

देह के अभिमान में निन्दा और स्तुति का ज्ञान होता है। क्योंकि देह को सत्ता से देही को देह का अभिमान होता है। देहाभिमान होने से प्राणियों के बारे में उसका वैषम्य होता है। मैं हूं, मेरा है, ऐसा सभी को अपने एवं पराये का भाव होता है। और उस भाव के कारण ताड़ना दण्ड देते हैं और पारुष्य गाली गलोज आपस में होता है। उससे फिर हिंसा एवं पीड़ा होती है। ये सब बातें शरीरधारी के के लिए बतलायी हैं। कि न्तु आप के लिए तो वेद कहते हैं कि आप अद्वितीय हैं एवं केवल हैं अतः अभिमन्तव्य के नही होने से आपको अभिमान भी नही है। और अखिलात्मा आप है अतः आप का किसी में वैषम्य भी नहीं हो सकता है। यह भी माता पिता एवं गुरुओं से सुना है कि रावण वगैरह का जो वध आपने किया है वह उनकी शुद्धि के लिए किया है बदला लेने की भावना से नहीं किया है।

एक बात और भी है कि जो मुझसे जैसा व्यवहार करेगा मैं उससे वैसा करूंगा यह कथन सान्तः करण व्यक्ति का हो सकता है आपको तो अन्तः करण है ही नही। तब आप यह कैसे कह सकते है। यदि सान्तः करण आप है तब आप भी जीव कोटि में आ गये। प्रपद्यन्ते भजामि में क्रम भंग दोष हो जाता है अतः दोष हटाने के लिए भजामि के जगह पर प्रपद्येऽहं तथैव तान् कहिए। या प्रपद्यन्ते के जगह पर भजन्तेऽत्र कहिए।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। ४। १३।

इस अंश की व्याख्या सभी टीकाकारों ने प्रायः एकरूप ही की हैं। जैसे— गुण एव कर्मों के विभाग से चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की है अर्थात् भिन्न २ गुण एवं कर्मों के आधार पर चारों वर्णों की रचना मैंने की है। इति। किन्तु यह व्याख्या १८ अध्याय के ४० और ४१ वें श्लोकों के अनुसार सही नहीं हो रही है अपितु विपरीत हो रही है। जैसे—

न तदस्ति पृथिव्यां वाऽदिवि देवेषु वा पुनः
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप!
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः। इति।

भगवान् कहते हैं कि पृथिवी लोक में अदिवि पाताल लोक में एवं देव लोक में ऐसा कोई सत्त्व प्राणी नहीं है जो इन गुणों से मुक्त हो रहित हो।

अतः हे परन्तप! इन प्रकृति के गुणों के आधार पर ही ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य तथा शूद्रों के कर्म अलग २ विभक्त हैं।

यही व्याख्या यहां होनी चाहिए। क्यों कि गीता में आदि से अन्त तक कहीं भी चारों वर्णों की सृष्टि के निरूपण की आवश्यकता ही नहीं हुई है। वहां तो कर्म भक्ति एवं ज्ञान के ही निरूपण का प्रकरण पदे पदे आता है। प्रकृत में इस चातुर्वर्ण्यम् श्लोक के पहले श्लोक—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।

में भी कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग देवताओं के उद्देश्य से यजनरूप कर्म करते हैं। क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि शीघ्र ही होती है। यहां कर्मों के माहात्म्य का निरूपण किया। और

चातुर्वर्ण्यम् श्लोक के बाद के श्लोकों में भी भगवान् कहते हैं कि—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

हे अर्जुन! कर्म मुझे अपने से लिप्त नहीं करते हैं अर्थात् कर्मों के बन्धन में मैं नहीं पडता हूं। क्योंकि कर्मों के फल की मुझे कोई स्पृहा नहीं है। आगे फिर भगवान् कहते हैं कि कर्म मुझे बन्धन में नही डाल सकते यह तो तथ्य है ही किन्तु यह भी तथ्य है कि कर्मों का मुझे बांधना तो दूर रहा और जो व्यक्ति उक्त प्रकार से मुझे

जानता है उसको भी कर्म बांध नही सकते हैं। इसी तथ्य को जान कर प्राचीन मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है अतः प्राचीनों ने प्राचीनों के जो कर्म किये हैं उन कर्मों को तुम भी करो।

इस तरह आगे एवं पीछे के श्लोको में कर्म का ही निरूपण किया है अतः इस श्लोक में भी चारों वर्णों के कर्म के ही विषय में निर्देश किया है न कि उन वर्णों की उत्पत्ति का निर्देश किया है। क्योंकि उन वर्णों की उत्पत्ति को बतलाने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः टीकाकारों की यहां यह व्याख्या करना कि चारों वर्णों की सृष्टि मैंने की है वह सब गड़बड़ है। ऊंट पे टांग है। भगवान् भाष्यकार भी इस उलझन में पड़े थे इस का संकेत उनके द्वारा इस श्लोक की दो तरह की उत्थानिका करने से मिलता है।

एक बात और भी है कि सर्व साधारण व्यक्ति निष्ठ सर्व साधारण कर्मों का एवं ब्राह्मणादि चारों वर्ण रूप विशेष व्यक्तियों के विशेष कर्मों का भी भेद १८ वें अध्याय में जो बतलाया है उस का भी आधार सत्व रज एवं तम ये गुण भेद ही हैं। अतः गुणों के भेद से ही चारों वर्णों के कर्मों की सृष्टि मैंने की है यही अर्थ यहां शुद्ध है। न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः इसमें लोक के कर्मों की सृष्टि प्रभु नहीं करता है इससे भी हमारी व्याख्या का विरोध नहीं है क्यों कि यहां व्यष्टि के कर्मों की सृष्टि का निषेध है समष्टि के कर्मों की सृष्टि तो प्रभु ने की ही है। इसीलिए लोकस्य में एक वचन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्। ४। १८ यह श्लोक ठीक—
या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

इस श्लोक की तरह है। संसारी कुत्सित व्यक्ति मार काट लूट पाट चोरी को समझता है। उसको जो अकर्म समझता है वह बुद्धिमान् है योगी है। और पिता कर्म माता गुरु देवता ब्राह्मणों और महात्मा की सेवा पूजा अर्चा वन्दना को आधुनिक संसारी अकर्म समझता है उसे जो कर्म समझता है वही वस्तुतः सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है। यह बहुत उचित कर्म की व्याख्या की गई है।

यज्ञायाचरतः कर्म ४।२३ वें श्लोक के प्रसंग में ब्रह्मदृष्टियज्ञ १ दैवयज्ञ २ ब्रह्मात्मैकत्वरूप सम्यग्दर्शनयज्ञ ३ सर्वेन्द्रिय निरोध यज्ञ ४ विषयोपभोग यज्ञ ५ द्रव्ययज्ञ ६ तपोयज्ञ ७ योगयज्ञ ८ स्वाध्याय यज्ञ ९ ज्ञानयज्ञ १० प्राणायाम यज्ञ ११ संशित व्रत यज्ञ या महाव्रतयज्ञ १२ ये बारह प्रकार के यज्ञ बतलाये हैं। इनमें ब्रह्मदृष्टियज्ञ ब्रह्मात्मैकत्वरूप सम्यग्दर्शन यज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये तीन यज्ञ पृथक् पृथक् नही है। बस केवल एक ज्ञानयज्ञ ही हैं। सर्वेन्द्रियनिरोधयज्ञ योगयज्ञ एवं प्राणायामयज्ञ ये तीन यज्ञ भी पृथक् पृथक् नही है। बस केवल एक योग यज्ञ ही हैं।

इन यज्ञों के प्रसङ्ग में वस्तुतः जिस यज्ञको बतलाना बहुत जरूरी था। जिसको भगवान् ने स्वयं कहा है कि यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूं। उस जपयज्ञ को नही बतलाया यह कमी रह गई। जिसके विषय में अन्यत्र भी लिखा है। कि—

विधियज्ञाद् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।

विधियज्ञ की अपेक्षा जपयज्ञ दश गुणा अधिक श्रेष्ठ है। और भी

यावन्तः कर्मयज्ञाः स्युः प्रदिष्टानि तपांसि च।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

द्रव्यों से किये जाने वाले एवं प्राणों की आयमनादि क्रियाओं से साध्य जितने भी यज्ञ हैं तथा तपो यज्ञ हैं वे सब जपयज्ञ की सोलहवीं कला की भी योग्यता वाले नही है। क्यों कि

जपनिष्ठो द्विजश्रेष्ठोऽखिलयज्ञफलं लभेत्।
सर्वेषामेव यज्ञानां जायतेऽसौ महाफलः॥
जपेन देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान् कामान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्वतीम्॥

जप में निष्ठा करने वाला व्यक्ति द्विजश्रेष्ठ है वह सभी प्रकार के यज्ञों के फल को प्राप्त कर लेता है। यह जप यज्ञ सभी यज्ञों के मध्य में महाफल शाली हैं। जप के द्वारा नित्य स्तूयमाना देवता प्रसन्न हो जाती हैं और प्रसन्न होकर वह विपुल कामनाओं को पूर्ण करती है और अन्त में मुक्ति भी देती है।

शास्त्रों का जप के विषय में यह डिण्डिम घोष है कि—

जपात् सिद्धिर्जपाद् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।
जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः॥

इस मे कोई संशय नही है कि ब्राह्मण जप से ही सिद्ध होता है। अतः जप से सिद्धि होती है जप से सिद्धि होती है और जप से सिद्धि होती है इस में कुछ भी संशय नही है।

हिंसादि दोषों से शून्य चित्त को शुद्ध करने वाला व्यापार जप है। जपपद का अर्थ है हृदय में उच्चारण १ हृदयोच्चारण का अर्थ है। जिह्वा ओष्ठ आदि के चलाये विना शब्द और अर्थ का हृदय में चिन्तन। यह जप स्पष्ट १ उपांश शनैः शनैः २ एवं मानस इस तरह तीन प्रकार का है। इनमें क्रमशः उत्तरोतर जप अधिक फल वाला है। जप काल में (व्यग्रचित्तो हतो जपः) के अनुसार व्यग्रचित्त होना जप का नाश करना है। अतः

मनः संहृत्य विषयान्मंत्रार्थं गतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च जपेन्मौक्तिक पंक्तिवत्।
आलस्यं जृम्भणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम्।
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपं जप काले विवर्जयेत्।

मनको विषयों से हटाकर मंत्र के अर्थ में लगाते हुए मोतियों की पंक्ति की तरह मंत्र के अक्षरों का जप करे। जप के समय शीघ्रता, विलम्ब, आलस्य, जंभाई लेना, सोना, छींक लेना, थूकना, भयभीत होना, गुह्य अङ्गों का स्पर्श करना एवं कोप करना वर्जित है।

एक अंश और भी छूट गया है। वह जैसे—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो वलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्।

अध्यापन रूप ब्रह्मयज्ञ, तर्पण रूप पितृयज्ञ, होम रूप दैवयज्ञ, वलिरूप भूतयज्ञ और अतिथि पूजनरूप मनुष्ययज्ञ इन पाँच यज्ञों को यहां प्रकृत में नही वतलाया है। यज्ञशिष्टामृतभुजः में उपात्त यज्ञ शब्द से ये ही पांच यज्ञ विवक्षित हैं। इसके सिवाय कर्मयज्ञ एवं ध्यानयज्ञको भी नही वतलाया है। जैसा कि शिव पुराण में वायु संहिता में १८।८६।१०६ कहा है—

कर्मयज्ञस्तपोयज्ञो जपयज्ञस्तदुत्तरः
ध्यानयज्ञो ज्ञानयज्ञः पंच यज्ञाः प्रकीर्तिताः। इत्यादि।

इस तरह चतुर्थाध्याय की समीक्षा समाप्त हुई।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ अब पंचम अध्याय का आरम्भ करते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

अर्जुन पूछता है कि हे कृष्ण ! एक वार कर्मो के संन्यास को कर्मों के त्याग को कहते हैं दुवारा फिर कर्मों के योग को यानी कर्मों के अनुष्ठान को कहते हैं। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि इनमें जो अति उत्तम हो उस एक को सुनिश्चित रूप से कहिए। १

भगवान् उत्तर देते हैं—हे अर्जुन ! कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही श्रेय के साधन हैं। किन्तु इन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्म योग विशिष्ट है। श्रेष्ठ है। २।

हे महाबाहो ! जो किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी फल की आकांक्षा करता है। तथा जो द्वन्द्व नहीं करता यानो प्रतियोगिता का भाव नहीं रखता है अथवा शीतता एवं उष्णता आदि द्वन्द्वों का सहन करता है उसे नित्य संन्यासी समझो। ऐसा व्यक्ति कर्मों के बन्धन से सुख पूर्वक विना कष्ट के छूट जाता है। ३।

सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति ? न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

बालक्रीड़ा

सांख्य यानी कर्म संन्यास और योग यानी कर्मानुष्ठान रूप योग ये पृथक् पृथक् हैं ये भिन्न भिन्न हैं ऐसा बालक ही यानी अज्ञानी ही कहते हैं ? पण्डित लोग नहीं कहते ? अपितु पण्डित लोग भी कहते हैं । क्यों कि किसी एक का भी सम्यक् अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् दोनों स्वतन्त्र हैं । ४ ।

जिस स्थान को सांख्य माने कर्मसंन्यासी प्राप्त करते हैं उस स्थान की तरफ योग माने कर्म योगी गमन करते हैं [यहाँ इस पद्य में प्राप्यते कह कर जो गम्यते कहा है यह एकप्रसरतामंग सार्थक है दोष नहीं है] इसकी सार्थकता को समीक्षा में पढें । ५ ।

हे महाबाहो ! कर्म योग के विना जो संन्यास है वह दुःख को प्राप्त करने के लिए है यानी विना योग के संन्यास को प्राप्त करना कठिन है । कर्म योग से युक्त मननशील व्यक्ति अर्थात् कर्म योग का सम्यक् अनुष्ठान करने वाला मननशील व्यक्ति विना विलम्ब ब्रह्मको प्राप्त कर लेता । यहाँ का स्पष्टीकरण ऐसा है कि योग के विना संन्यास को प्राप्त करना कठिन है किन्तु जो योगी है वह शीघ्र ही संन्यास को प्राप्त कर लेता है । अतः कर्मयोग कर्म-संन्यास से अधिक विशिष्ट है । ६

योगयुक्त पुरुष विना विलम्ब के संन्यास को कैसे प्राप्त कर लेता है । इसके उत्तर में भगवान् कहते है कि योग युक्त पुरुष कर्म करता हुआ भी कर्मों के द्वारा होने वाले से बन्धन से रहित होता है । और जो बन्धनों से जकड़ा हुआ है जो हिल भी

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

बालक्रीड़ा

नहीं सकता है वह कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता है । किन्तु जो योगी है वह विशुद्धात्मा है उसका आत्मा अन्तः करण यानी बुद्धि विशुद्ध है । निर्मल है जब बुद्धि शुद्ध है तब यह विजितात्मा है अर्थात् उसका आत्मा कार्य कारण संघातात्मक देह भी विजित है स्वाधीन है । तथा वह जितेन्द्रय हैं सब बाहरी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं अतएव सम्पूर्ण भूत ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणी उसको अपनी आत्मा के सदृश समझने लगते हैं ।

अर्थात् कर्मयोग में युक्त व्यक्ति विशुद्धात्मा हुआ शरीर और इन्द्रियों को जीत लेता है जिसके कारण उसका आत्मा सब भूतों का आत्मा हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण भूत उसको अपने आत्मा के तुल्य मानने लगते हैं और वह योगी सब भूतों को अपना आत्मा मानता हैं मैं ही सर्व भूतों में निवास करता हूं ऐसा मानने वाला योगी सब कर्म करता हुआ भी कर्म फल से लिप्त नहीं होता है । ७ ।

इस प्रकार सब भूतों में आत्म दर्शन करने वाले तत्त्ववेत्ता योगी को "मैं कुछ नहीं करता हूं ऐसा मान लेना चाहिये ।" अतएव देखता हुआ भी सुनता हुआ भी, स्पर्श करता हुआ भी, सूंघता हुआ भी, खाता हुआ भी, जाता हुआ भी, श्वास-प्रश्वास लेता हुआ भी, प्रलाप करता हुआ भी, विसर्ग माने मल मूत्र का त्याग करता हुआ भी, उन्मेष एवं निमेष यानी आंखों को खोलता हुआ और आंखों को झपाता हुआ भी इन्द्रियां अपने अपने वेद्य एवं प्राप्य विषयों में प्रवृत्त होती है ऐसी धारणा करे यानी ऐसा निश्चय करे । ८ । ९ ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

ब्रह्म में कर्मों का धारण करके अर्पण करके सङ्ग से आसक्ति से रहित हुआ जो योगी कर्म करता है वह वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता है जैसे कमल का पत्ता जल में रह कर भी जल से सम्पृक्त नहीं है। यहां का भाव यह है कि प्राणानुस्यूत शरीर और इन्द्रियां ये दो ही कर्म करने वाले हैं किन्तु ये दोनों जड़ हैं तब भी चैतन्य की प्रेरणा से कर्म करते हैं। इस तरह यह प्राणेन्द्रियशरीर संघात के द्वारा जो कर्म करना है वह अहंकार से कर्म करना नहीं हुआ अपि तु स्वतः हुआ। इस लिए कहा कि सङ्ग को त्याग कर अर्थात् मैं इस कर्म को करता हूं मुझे इस कर्म का फल मिलेगा इस वासना को छोड़ कर कर्म करना चाहिए फलतः ब्रह्माग्नि में भस्मीभूत होने से फल प्रसव के अयोग्य हुआ वह कर्म अपने स्वरूप को कर्म भाव को त्याग कर ब्रह्म स्वरूप में लीन हो जाता है। १०।

कर्म के त्याग का दूसरा प्रकार बतलाते हैं। जो योगी कर्म के फल में प्रीति का त्याग कर केवल शरीर से या केवल इन्द्रियों से या केवल संकल्पात्मक मन से या निश्चयात्मक बुद्धि से आत्मा की अन्तः करण की शुद्धि के लिए कर्म करता है अर्थात् लोह चुम्बक न्याय से आत्मा की चेतन की सन्निधि मात्र से यह प्राणेन्द्रिय शरीर संघात अपने अपने कर्म करता है आत्मा असंग है शुद्ध है कर्म का संसर्गी किसी भी अवस्था में नहीं है अतः मैं कुछ नहीं करता हूं मुझसे यह हो जाते हैं इस धारणा से वह योगी कर्म का आश्रय नहीं होता है। और कर्म के आश्रय नहीं होने से देहेन्द्रिय संघात के नष्ट होने पर कर्म भी फल को विना पैदा किये स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। ११।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
न द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

बालक्रीड़ा

जो युक्त है जो योग में लगा हुआ है अर्थात् केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम भाव से न कि फल प्राप्ति को बुद्धि से कर्म करता है वह नैष्ठिक योगी कर्मों के फल को छोड़ कर नैष्ठिकी सिद्धि को यानी चित्त शुद्धि, वासना त्याग नित्यानित्य वस्तु विवेक, कर्म संन्यास एवं ज्ञान निष्ठा के क्रम से शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु जो अयुक्त हैं वह अज्ञानी कामकार से माने कामनाओं की प्रेरणा से फल में आसक्त हुआ कर्म बन्धन में जकड़ जाता है। १२।

वशी माने अहंकारभाव के त्याग कर देनें से प्राणेन्द्रियदेहसंघात एवं मन बुद्धि तथा चित्त को स्वाधीन करने में समर्थ देही पुरुष पहले कहे हुये प्रकार से सम्पूर्ण कर्मों को मन से हटा कर नो द्वार वाले पुर में मालिक बन कर सुख से वास करता है। इस हालत में वह न स्वयं कुछ कर्म करता है और न देह एवं इन्द्रियों से कर्म करता है। यहां नो द्वार वाले पुर का अर्थ है जहाँ दो आँखे, दो कान, दो नाक एक मुख ये शात द्वार सिर में हैं और मल एवं मूत्र के त्याग करने के लिए दो द्वार नीचे हैं इस तरह नो द्वारों वाला शरीर है। १३।

प्रभु माने देव तिर्यक् एवं मानव दानव आदि सभी भूमियों में प्रकर्ष से रहने वाला आत्मा प्राणेन्द्रिय शरीर संघात रूपी किसी भी लोक के कर्तृत्व की सृष्टि नहीं करता है, यानी किसी का प्रयोजक कर्त्ता एवं प्रयोज्य कर्त्ता नहीं बनाता हैं कि तुम स्वयं ऐसा करो और उससे ऐसा करवाओ। और न कर्मों की सृष्टि करता है कि अमुक-अमुक कर्म हैं। तथा अमुक कर्म करोगे तो ऐसा फल मिलेगा इस तरह यानी भोगने के वास्ते कर्म फल को संयोग की सृष्टि नहीं करता हैं। किन्तु स्वभाव से ही

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

बालक्रीड़ा

कोई कर्त्ता वन जाता है जव वह कर्त्ता वना तव उससे कर्म भी स्वतः होने लगे जव कर्म हुए तव उन कर्मों का फल भी स्वतः प्राप्त हो गया। यहां का भाव यह है कि अधिष्ठान चैतन्य की ऊष्मा से प्राण का स्वभाव है कि जो नाना प्रकार के अंकुर वन जाता है। उसमें चक्षुरादि इन्द्रियों का भी स्वभाव है कि जो सामने वस्तु दीख पड़ता है उसको देखने लगती है। ऐसे ही श्रवणादि सव इन्द्रियों के भी कर्म होने लगते हैं। ऐसे स्वभाव सिद्ध कर्मादि में कामना करने वाला पुरुष फल की प्राप्ति करने लगता है जिससे वह कर्मों के वन्धन में फंस जाता है। जैसे एक वालक ने खेल-खेल में अर्क के मदार के फूलों को तोड़ २ कर एकत्रित किया जिनसे सूखने के वाद रुई निकलती है। जिसका उपयोग किसी वुद्धिमान् ने किया तो हजारों मन रुई इकट्ठी कर ली और व्यापार शुरु कर दिया। प्रकृत में वेदात्मा हरि वुद्धि मान है वही सवको वुद्धि देता है। उसकी प्रकृति अपनी चेष्टा से पदार्थों का सर्जन करती है और उनमें परिवर्त्तन कर करती है। इन्हीं परिवर्त्तनों को देख कर राग एवं द्वेष मयी सभी वृत्तियों का उदय हो जाता है। जिससे पदार्थों में उपोदयत्व एवं हेयत्व का विभाग हो जाता और फल की प्राप्ति करने का संकल्प होता है। इस तरह जीव चक्र में फंस जाता है वह वेदात्मा हरि ही इस चक्र से निकलने की उपाय इस जीव को वतलाता है कि जिस चाल से तुम फंसे ही उसे चाल को जव समझोगे तभी तुह्मारा यह फाँसा छूटेगा। १४।

विभु व्यापक सव जगहों में जड़ और चेतन में सत् एवं चित् रूप से रहने वाला परमेश्वर किसी के अशुभ कर्मरूप पाप को ग्रहण नहीं करता है और न वह शुभ रूप सुकृत का ग्रहण करता है अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल का आत्मा के साथ कोई लगाव सम्पर्क नहीं है। प्रश्न—जव जीवात्मा के साथ कर्मों के फल का कोई सम्वन्ध नहीं है तव व्यवहार कैसे होता है। उत्तर—अज्ञान से ज्ञान ढ़क गया है आवृत हो गया है। इससे जीव को मोह हो गया है। अर्थात् अज्ञान से ज्ञान के तिरोहित

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

बालक्रीड़ा

हो जाने से फल की कामना जन्म लेती है उससे वासना का जागरण हो जाता है। जिसके फलस्वरूप उस भावना से अहंभाव के साथ बंध कर कर्म करता है और मिथ्या भ्रान्ति में पड़कर समझता है कि मैं उत्तमोत्तम फलों का उपभोग करता हूं। १५।

जिन योगियों का जिस आत्म ज्ञान के द्वारा वह अज्ञान (जो सत्को असत् कर देता है और प्रतीत को प्रतीत नहीं होने देता हैं) नष्ट कर दिया गया हैं। उन योगियों का वह आदित्य सदृश प्रकाशक ज्ञान परब्रह्म को प्रकाशित कर देता है। १६।

जिन्होने समझने के लिए तत्परता के साथ अपने मन को परमात्मा में लगा दिया है। जिनकी उसमें निष्ठा है यानी उसको उत्तमोत्तम स्थान मानते हैं। जिन्हों ने अपने ज्ञान से पापों को निर्धूत कर दिया हैं वे योगी लोग अपुनरावृत्ति को यानी (यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद् धाम परमं मम) के अनुसार जहाँ जाकर पुनः वापिस नही लौट आते हैं उस परम धाम को प्राप्त करते हैं। १७।

आत्मा के पहिचानने के उपाय को बतलाते हैं। यहाँ यह जानना जरूरी है कि विद्या और विनय ये दो संस्कार हैं जो अन्तः करण के ही होते हैं आत्मा असंग है वह इन से असम्पृक्त है अतः वह इनसे उज्वल नहीं होता है। हां अन्तः करण इनसे शुद्ध होता है। उज्ज्वल होता है। आत्मा तो हर हालत में एक रस ही रहता है। उसमें इनसे कोई फरक नहीं पड़ता है अतएव जो इनसे सम्पन्न हो सकते हैं उनका तो यहां निर्देश किया ही है किन्तु जिनका इनसे सम्पन्न

होने की बात तो दूर है जहाँ इनका स्वप्न भी नहीं लिया जा सकता हैं उनका भी निर्देश इस पद्य में किया हैं। उसी को कहते हैं कि जो विद्या एवं विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, प्रशस्त किन्तु जाडय गुणयुक्त पशु गौ में, विक्षिप्त पशु हाथी में, अविवेक की साक्षात् मूर्ति अतएव अखाद्य को खाने वाले कुत्ते में (यहाँ कुत्ता शब्द सूअर वगैर का उपलक्षक है) तथा मनुष्य योनि पाकर भी यानी मानव शरीर धारण करने से सत् चित् एवं आनन्द को प्राप्त करने की स्थिति में होने पर भी जो कुत्ते को भी पका कर खा जाता है ऐसा जघन्य कर्म करता है अत एव जात्या अधम है उस चण्डाल में भी समको ब्रह्म को देखता हैं वह पण्डित है । १८ ।

सम शब्द का वाच्य अर्थ ब्रह्म है इसको बतलाते हैं। उन लोगों ने यहाँ ही सर्ग को जन्मादि लक्षण संसार को यानी द्वैत प्रपञ्च को जीत लिया है जिनका मन साम्य में माने सममें स्थित है (यहां सम ही को साम्य शब्द से कहा है, क्यों कि येषां समे स्थितं मनः ऐसा कहने की अपेक्षा येषां साम्ये स्थितं मनः कहने में या फिर मूल पाठ को समे येषां स्थितं मनः के रूप में बदलने पर छन्द की गति विधि एवं उच्चारण की प्रक्रिया भी सुन्दर हो जाती हैं) किन्तु मूल पाठ कावदलना सम्भव नही है अतः यहाँ स्वार्थ में ष्यञ् किया है ऐसा समझना चाहिए। यह तो वहिरङ्ग कथा है। अन्तरंग कथा यह है कि पञ्चदर्शीकार ने 'मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः, इस प्रकार माया को ईश्वर की उपाधि और अविद्या को जीव की उपाधि वतलाया है इनमे शुद्ध सत्व प्रधाना माया है और विकृत सत्त्वप्रधाना अविद्या हैं अतः ऐसी स्थिति में ये दोनों ईश और जीव उपाधि युक्त उपहित होने से सदोष है किन्तु जो इन उपाधियों से रहित हैं वह निर्दोष है शुद्ध है । फलतः निर्दोष माने उपाधियों से रहित ब्रह्म सम् सम्यक् अ वासुदेव हैं । तस्मात् माने इसलिए ये लोग ब्रह्म में स्थित हैं जिनका मन सम में स्थित है । यदि यहां साम्य का अर्थ समत्व करते हैं तो यहां संगति नही बैठती है क्यों कि ब्रह्म सम ही है समत्व नही है। यदि साम्ये का अर्थ समत्व करते हैं तो समत्वरूप धर्म में जिनका मन स्थित है ऐसी धर्म घटित व्याख्या इसकी करनी होगी किन्तु ब्रह्म तो निर्धर्म हैं। फिर भी असंगति हो जायगी अतः यहां साम्ये पद में स्वार्थ में ष्यञ् है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।१६ ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। २० ।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।

बालक्रीड़ा

पूर्व श्लोक में सम को देखने वाले पण्डित है ऐसा कहा है अतः स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि सम क्या है जिसको देखने वाले पण्डित कहलाते हैं अतः सम क्या है का उत्तर देने के लिए आगे वाले श्लोक को कहा है। अतः निर्दोष ब्रह्म ही सम है यह उत्तर हुआ। इसमें निर्दोष ब्रह्म को उद्देश्य करके सम को विधेय कहा है। १६।

जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रहृष्ट प्रसन्न नहीं होता है और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होता है यानी भयभीत या विचलित नहीं होता है वह स्थिर बुद्धि है अतएव असंमूढ है यानी दुनियादारी के फन्दे म नहीं फंसता है। ऐसा ही व्यक्ति ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में स्थित हो जाता है २०।

ब्रह्म में मग्न होने वाले जिस महायोगी का आत्मा चित्त बाह्यस्पर्शों में लौकिक विषयो मे असक्त हूं फंसा हुआ नहीं है अतएव जो आत्मा में सुख का लाभ करता है अपने आप में सुख का अनुभव करता है वह ब्रह्मयोग में निर्बीज समाधि में मन को लगाने वाला ब्रह्मज्ञानी अविनाशी सुख का भोग करता है। २१।

यद्यपि सुखमात्र आत्मा का स्वरूप है तद्यपि उसमें सविषय एवं निर्विषय भेद से भेद है। उनमें जो सविषय है यानी जो विषयों के भोग से होता है वह अल्प है वह तुच्छ है और जो निर्विषय है वह भूमा है। वही भूमा सुख आत्मा है उसको कहते हैं। जो विषयेन्द्रियों के सम्बन्ध से होने वाले भोग हैं वे उत्पत्ति और

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेष रमते बुधः ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

बालक्रीड़ा

विनाश शील होने से दुःख के कारण हैं। इसलिए हे कौन्तेय। उनमें बुध रमण प्रीति नही करता है। प्रश्न=तब बुध कहां रमण करता है=उत्तर= नतों में स्वतः उपनत होने वालों में अत एव नतो में नम्रों में रमण करता है। २२।

जो योगी शरीर के विमोक्षण के यानी गिरने के पहिले ही अर्थात् जीता हुआ ही काम एवं क्रोध के वेग के सहने में रोकने में सशक्त है समर्थ है वस्तुतः वही युक्त है और वही सुखी नर है। बाकी के लोग या तो स्त्री है और या नपुंसक हैं। नर नही है। २३।

जो योगी अन्तः सुखी है बाहर में सुख का प्रकाश नही करता है जो अन्तराराम है जो आन्तरिक विषयों में ही रमण करता है बाहर के विषयों में रमण नही करता है एवं जो अन्तर्ज्योति है बाहर में अपनी ज्योति को प्रकाशित नही करता है अर्थात् जिस की ज्योति रति एवं सुखानुभूति को कोई समझ नही सकता है वह योगी ब्रह्मभूत है जीता हुआ भी ब्रह्मसदृश है अत एवं ब्रह्मनिर्वाण को ब्रह्मरूप आनन्द को प्राप्त करता है ब्रह्मसुख का अनुभव करता है। २४।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥
स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोवुद्धिमुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

जो योगी छिन्नद्वैध हैं यानी संशय और विपर्यय के कारण होने वाले द्वैधभाव को जिसने छिन्न भिन्न कर दिया है। यतात्मा होकर मनको वश में करके राग द्वेषमयी वृत्तियों को छोड़कर स्वभाव से अपने ब्रह्मभाव से ही सम्पूर्ण भूतों के प्राणियों के हित साधन में रत हैं। जिन के पाप क्षीण हो गये हैं। जो ऋषि हैं जिन्होंने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वे ब्रह्म सुख का अनुभव करते हैं। २५।

जो काम याने रागमयी वासना एवं क्रोध माने द्वेष भाव से रहित हैं जो यतन शील है अत एवं जो चित्त के नियन्त्रित करने में लगे हुए हैं ऐसे विदितात्माओं के ब्रह्म के जानकारों के अभितः इधर उधर आमने सामने ब्रह्म सुख रहता है। २६।

वाह्य विषयों को त्याग कर भ्रकुटियों के बीच में चक्षुको लगाकर, नासा और अभ्यन्तर में चारी प्राण की तथा अपान की गति को सम करके इन्द्रिय मन एवं वुद्धि को विषय सुखों से हटाकर एवं काम भय और क्रोध को जीतकर जो योगी मोक्ष को प्राप्त करने में परायण हुआ है वह सदा ही मुक्त है। २७।२८।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

बालक्रीडा

जो योगी मुझको यज्ञ एवं तपस्या से उत्पन्न होने वाले फलों का भोक्ता, सम्पूर्ण संसार का महान् शासक एवं सम्पूर्ण भूतों का सुहृत समझता है वह शान्ति को प्राप्त करता है । २९ ।

इस प्रकार गीता के पंञ्चम अध्याय की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा
समाप्त हुई ।

—*०*—

अथ पञ्चमाध्यायः समीक्ष्यते

मधुसूदनी

अस्मिन् पञ्चमेऽध्याये "सांख्ययोगौ" अयं श्लोकः। अत्र सांख्ययोगशब्दौ स्तः यौ द्वितीयाध्यायस्य ३९ तमे श्लोके "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" समागतौ। तदनन्तरं। ३ अध्याये ३ श्लोके लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। अपि निर्दिष्टौ। ततः ५ अध्याये चतुर्थ पञ्चम श्लोकयोः "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति" अपि समायातौ। अनयोरर्थौ विमृश्यते।

प्राक् प्रथमे अध्याये अर्जुनः सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे उपाविशत्। पुनः द्वितीये अध्याये न योत्स्ये इत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव। अस्यां स्थितौ द्वितीये अध्याये भगवताऽर्जुनो बोधितः। यत् कुतस्त्वां कश्मलमिदं समुपस्थितम्। क्लैब्यं विहाय युद्धायोत्तिष्ठ। यान् शोचसि ते भीष्मद्रोणादयो महापुरुषाः शोचयोग्या न। बुद्धिवादान् मा वादीः। यतो भीष्मादीनां देहं शोचसि चेत्तर्हि

अयं देहोऽवश्यं प्रणश्यः। अद्य वाब्दशतान्ते वा, नात्र संशीतिलेशोऽपि। किन्तु देही आत्मा यो देहाद्भिन्नः सोऽजरः अमरः। अस्मिन् विषये त्रयाणां कालानां तु कथैव का तस्यानन्तत्वात् अनन्तेऽपि काले स न जीर्यति न वा म्रियते कदाचित्। अस्यां स्थितौ शोकं मोहञ्च विहाय युध्यस्व विगतज्वरः। सुखिनः पुण्यात्मान एव क्षत्रिया ईदृशीं युद्धस्थितिं प्राप्तुं योग्या नान्ये ये वा के वा क्षत्रियाः।

एतदतिरिक्तम् इदमपि वृत्तम्। यत् तव स्तवसामर्थ्यं स्तुतिमाप्तुं योग्यत्वमस्ति तस्य विनिमयं त्वं प्राप्स्यसि। तत्तु मरणादपि कुत्सितम्। मरणं नाम प्राणैः देहस्य विच्छेदः। तत्र तु विच्छेदकालिकं केवलं दुःखम् ततः परं न किञ्चित्। कुत्सायां तु यावद्देहः तावच्छल्यभेदः। ततो दुःखम्। एवमान्तं दुखम्। तस्माद् युद्धं कुरु।

एवं युद्धं कर्त्तुं देहस्य नश्वरताया आत्मनोऽजरतामरतयोश्च विषये तात्विकं विवेकं बोधयित्वा भगवान् कथयाञ्चकार यदियं मया सांख्ये बुद्धिः (ज्ञानं) अभिहिता सम्प्रति योगे बुद्धिं शृणु।

न हि शब्दे एव कथनस्य श्रवणस्य च योग्यता। ननु सा बुद्धेरपि। अतएव बुद्धिरभिहिता बुद्धिं शृणु इति।

गीतासु मूले सांख्यशब्दार्थः देहात्मनोस्तात्विको विवेकः। योगशब्दार्थः कर्मयोगः शाङ्करभाष्ये परमार्थवस्तुविवेकः सांख्यपदार्थः। परमार्थवस्तुप्राप्तेरुपायः कर्मयोगः समाधिः योगपदार्थः।

आनन्दतीर्थमध्वभाष्ये सांख्यं ज्ञानम्। योगः उपायः। रामानुजभाष्ये सांख्यं ज्ञातव्यम्। तैरुल्लिलिखे संख्या बुद्धिस्तया अवधारणीयमात्मतत्वं सांख्यम्। यज् ज्ञातव्यम्। योगशब्दार्थश्च बुद्धियोगः। आत्मज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मानुष्ठाने वक्तव्यो यो बुद्धियोगः। तमेव बुद्धियोगं कथयति। अग्रे पि तमेव "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्। इत्येवं वक्ष्यति।

अमृततरङ्गिणीटीकायां वल्लभभाष्ये सांख्यं ज्ञानम। योगः कर्मयोगः। इत्युदटीकि।

मधुसूदनसरस्वती उल्लिलेख या परमात्मतत्वस्य सम्यक् ख्यानं करोति सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपादनं करोति सा संख्या उपनिषत्। तद् द्वारा योऽन्तिमतात्पर्यरूपेण प्रतिपाद्यः स सांख्य औपनिषदः पुरुषः। योगः कर्मयोग। इति।

नीलकण्ठः स्वीयभावप्रदीपटीकायामुल्लिलेख- संख्या उपनिषत्। तत्र विदितं सांख्यमौपनिषदं ब्रह्म। योगः समत्वम्। भाष्योत्कर्षदीपिकायां ग्रन्थकर्त्रा भाष्याक्षराण्येव उदटङ्किषत।

श्रीधरस्वामिभिः सांख्यं सम्यक् ज्ञानम्। तत्र प्रकाशमानमात्मतत्वं सांख्यम्। योगः कर्मयोगः इत्युल्लिलिखे।

तत्वप्रकाशिकायाम् उल्लिलेख अध्यात्मशास्त्रज्ञा बुद्धिः संख्या। तया अवधारणीयं तत्वं सांख्यम्। योगः कर्मयोगः।

शङ्करानन्दपादा अटीकन्त-संख्या परविद्या। तया प्रतिपाद्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म सांख्यम्। योगः कर्मयोगः।

सदानन्दो मधुसूदनसरस्वतीपादाक्षरेभ्यो बहिर्न जगाम।

परमार्थप्रपा श्रीधरस्वामिनमेव अनुससार। अर्थसङ्ग्रहकारः जीवेश्वरविषये यज् ज्ञानं तत्सांख्यम्। योगः स उपायः येन फलं प्राप्येतेति सञ्जग्राह।

शाङ्करभाष्ये शङ्कराचार्या व्यवसायात्मिकां बुद्धिं सांख्यबुद्धिं योगबुद्धिञ्च जगदुः।

आदि अान्तं सर्वैराचार्यैः कपिलमुनेः शास्त्रं सांख्यत्वेन पतञ्जलि ऋषेः शास्त्रं योगत्वेन न व्याजह्रे ।

इदं गीतासु द्वितीयाध्यायस्य सांख्ययोग शब्दयोः व्याख्यानां सङ्कलनम् । साम्प्रतं तृतीयाध्यायोक्तयोस्तयोः शब्दयो र्व्याख्यानं पश्यन्तु ।

परमार्थवस्तुविवेकवान् सांख्यः । परमार्थं वस्तु आत्मा तस्य विवेको ज्ञानम् । ततश्च परमार्थवस्तुज्ञानवान् सांख्यपदार्थः । योगी स्पष्ट एव । कर्मयोगशब्दे उपात्तं कर्म वर्णाश्रमविहितो धर्म एव ।

मध्वभाष्ये सांख्यो ज्ञानी । योगी स्पष्टः । रामानुजभाष्ये वल्लभभाष्ये नीलकण्ठीये मधुसूदन्याम् तत्वप्रकाशिकायाम् । शंकरानन्द्याम् कोऽपि नवीनोऽर्थो नास्ति ।

श्रीधर्यां सांख्यानां शुद्धान्तःकरणानाम् । योगिनामशुद्धान्तःकरणानाम् कर्मिणाम् ।

सदानन्द्यां, भाष्योत्कर्षदीपिकायां, परमार्थप्रपायाम् अर्थसंग्रहे च श्रीधरीवर्णा एव नान्ये ।

अभिनवगुप्ताचार्यः द्वितीये तृतीये चाध्याये शब्दाविमौ न पस्पर्श ।

इयं तृतीयाध्यायकथाऽस्ति । अधुना ५ माध्यायस्य तां रीयध्वम् ।

शङ्कराचार्यपादाः सांख्यपदेन संन्यासं प्रपेदिरे योगपदेन च कर्मयोगम् । तत्र विविदिपुः अर्जुनः कर्मसंन्यास कर्मयोगौ कौ इति जिज्ञासां चक्रे भगवान् मधुसूदनः साख्ययोगशब्दाभ्यां तदुत्तरं ददौ । अस्य किन्तत्वम् । विषयेऽस्मिन् ते जगदुः तथ्यमेव । भगवान् मधुसूदनः अर्जुनस्य प्रष्टव्यमंशं गृह्णन् अत्यजन् वा स्वाभीष्टार्थं सङ्गमयन् तयोः शब्दयोरर्थं व्यवेचयत् । अतः सोप्यर्थः अयमप्यर्थः । स्वस्वस्थाने अर्थौ उभावपि समीचीनौ प्रकरणानुसारेण न विभिद्याते ।

सर्वेऽपि टीकाकाराः प्रौढा पण्डिताः परमेषामाशयं केऽपि साम्प्रतिका न बुबुधुः । गङ्गागमने गङ्गानाथाः यमुनासविधे यमुनानाथाः इमे भवन्ति । एकं तथ्यं न निश्चकर्षुः । अतः इयान् उदलिखमहम् । अथ निष्कर्षः भगवतः पाणिनेः सकेतं अनेन व्याचख्यामास ।

यत् सर्वे कामदुधाः शब्दा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। अतः प्रकरणानुस्यूतं पदस्यार्थं समनुगृह्णन्तु सङ्गच्छन्तु सङ्गमयन्तु वा। अतः सांख्यशब्दस्यार्थः कापिलं सांख्यं शास्त्रम्। योगपदास्यार्थः पातञ्जलं शास्त्रम्। ब्रह्म सांख्यम्। कर्मयोगो योगः। सांख्यो ज्ञानी। योगो योगी। सांख्यं संन्यासः। योगः कर्मानुष्ठानं समाधिश्च। अतएव कर्मिभ्यश्चाधिको योगीति वक्ष्यते। सांख्य योगौ उपायौ। सांख्यमुपेयमपि। योगस्तु समेषां मते उपाय एव। साख्यमेकं मुख्यमित्यर्थः। योग एको मुज्य इत्यर्थः। साख्यमेकं केवलं स्वतन्त्रम्। योगः केवलः स्वतन्त्रः। यत इमे द्वे निष्ठे। इमे द्वे तदैव स्यातां यदेमे भिन्ने स्तः एकतायां द्वैतमसम्भवि। यदा स्पष्टं स्पष्टं द्विविधा निष्ठा इत्युज्जगार तदा विना भेदं कथं कथनमेतत् फिट् स्यात्।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। अत्र केऽपि लोका अस्य श्लोकस्य एवमर्थं कुर्वन्ति यत् सांख्यं पृथक् योगः पृथक् इति बालाः प्रवदन्ति किन्तु पण्डिताः तौ पृथक् स्तः इति न प्रवदन्ति। ते प्रष्टव्याः। एवमर्थकरणे भवतामाधारः कः। यतो हि एवंभूतोऽर्थस्तदैवात्र भवितुमर्हति यदा "सांख्य योगौ पृथक् इति बालाः इत्येवमिति घटितः अथ च किन्तु इति घटितः तथा इतिघटितश्च पाठो भवेत्। परमेतादृशः पाठो नास्ति। अत्र तु बाला इति कर्तृपदे सांख्ययोगौ इति कर्मपदम्। प्रवदन्ति इति क्रियापदम्। तर्हि कथमेतादृशोऽर्थः स्यात्। श्रूयतामतः—

अत्र वाक्यगता काकुः। बाला एव सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति पण्डिताः न अपितु पण्डिता अपि सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति। सांख्ययोगौ पृथक् स्तः इति पण्डितेष्वेव प्रसिद्धिरिति न अपितु आपामरं प्रसिद्धिरित्यर्थः।

प्रश्न :—नन्वेवं काकुघटितार्थकरणे भवतां क आश्रयः इति चेत्-उत्तरम्—अत्रत्या भाषैव। एतादृशार्थ करणे सहारा अस्ति। सा भाषा; इयमस्ति। एकमपि सम्यग् आस्थितः उभयोः फलं विन्दते। यतः इमौ द्वौ यदा स्याताम् तदा एव कोऽपि कथयिष्यति अनयोरेकस्यापि इति। तथा उभयोः फलं विन्दते इति च यदीमौ द्वौ एकतां गाहेयाताम् तदि ईदृशी भाषा न स्यात्। इदमेकमुत्तरम्।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

इत्यत्र उभौ इति पदम् तयोर्द्वैतं कथयति। तयो रेकत्वे कथमत्र उभौ इति द्वित्वबोधकं पदमुपन्यस्तम् अथ च तुपदम् विशिष्यते इति पदम् बोधयतः इमौ द्वावेव। अन्यथा अनयोः पदयोः प्रयोग एव न स्यात्। द्वयोः सत्त्वे एव कस्याप्येकस्य वैशिष्ट्यं बोधयितु मुचितत्वात् अवसर आपतति। इदं द्वितीयमुतरम्।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

अत्र यत्स्थानं सांख्यैः प्राप्यते तत्स्थानं प्रति योगै पि गम्यते अर्थात् तत्स्थानप्राप्तये योगिभिर्गमनं क्रियते यात्रा विधीयते। प्राप्तिः फलं गमनं गति रुपायः। अनयोः प्राप्यप्रापकभावः सम्बन्धः अतोऽन्तरं महदन्तरम्। यदीमौ एकतां गाहेयाताम् तर्हि प्राप्यते प्राप्यते अथवा गम्यते गम्यते इत्येवं प्रयोगवशात्कर्त्तव्याया एक प्रसरतायाः प्राप्यते इति गम्यते इत्येवं प्रयोगेण भंगो न कृतः स्यात्। ततश्च एकप्रसरतायाः भंग करणमेव प्रदर्शयति यत्साख्यं भिन्नं योगो भिन्नः। इदं तृतीयमुत्तरम्।

संन्यासस्तु महाबाहोः ! दुःखमाप्तुमयोगतः

यदि यत्सांख्येन प्राप्यते तद्योगेनाऽपि प्राप्यते यद्योगेन प्राप्यते तत्सांख्येनापि प्राप्यते तर्हि अयोगतः योगं विना एकलः सन्यासः दुःखमाप्तुं भवतीति एतादृशीं साध्यसाधनभावगर्भां भाषां भगवान् कथमुच्चारयेत्। एतदुच्चारणमेव बोधयति यदिमौ पृथक्। इदं चतुर्थमुत्तरम्।

एकं सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति

अत्र सांख्यं योग मेकं पश्यति इत्येवमेकपदप्रयोगस्य को मतलबः इष्टलेशः अभिप्राय इति यावत्। किमिमौ घटः कलश इतिवत् पर्यायौ। अथवा "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इतिवत् सांख्य योगं जानातु योगं सांख्यं जानातु इति संकेतो ग्राह्यते। अतोऽत्र एकशब्दस्य कोऽर्थः। यतः कोशेपु एकशब्दस्य एकं संख्यान्तरे श्रेष्ठे केवलेतरयोस्त्रिषु इति मेदिन्याम्। एकाकी त्वेक एकलः इति एके मुख्यान्य केवलाः इति चामरे। एकोन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। सर्मिणि समाने च संख्यायाञ्च प्रयुज्यते। एते अर्थाः। निर्दिष्टाः। अत्र यदि समानः एकशब्दस्यार्थः, तर्हि यथा घटः कलशः एकः साधारणः तथा सांख्यं योगश्च एकंसमानम् एवमिमौ तद्वत् पर्यायौ।

अस्यां स्थितौ "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।" इति कथनं तत्र अनवनम्। यतः सांख्यं योगः एकं वस्तु। अतः सांख्यविषये उक्तमर्थात् योगविषये उक्तम्। योगविषये उक्तमर्थात् सांख्यविषये उक्तम्। एवं वक्तव्यं सम्पन्नं स्यात्। अर्थात् कथयितुं किमप्यवशिष्टं नहि। पिष्टस्य पेषणं नास्तीतिवदिहाऽपि वार्त्ता। तत्पुनः किं कथ्यते योगे त्विमां शृणु इति।

यदि एक शब्दस्य केवलः अर्थः क्रियते तदि सांख्यमेकं केवलम् अर्थात् योगो नहि। अथवा योग एकः केवलः अर्थात् सांख्यं नहि। अयमेव तु निर्णयः। यदि एकशब्दस्य मुख्योऽर्थः क्रियते तदि सांख्यमपि मुख्यं योगोऽपि मुख्यः। अर्थात् स्वस्वस्थाने उभे अपि मुख्ये। अतः स्वतन्त्रे स्त पृथक् २ स्तः। अथ यदि एक शब्दस्य अन्यः भिन्नः अर्थः प्रतिपाद्यते तदि सांख्यमन्यत् भिन्नम। योग अन्यः भिन्नः अर्थात् सांख्ययोगौ पृथक् स्तः। एवं हि किं व्याख्यायते सांख्ययोगौ पृथगिति बाला एव प्रवदन्ति न पण्डिताः। पण्डितास्तु तौ पृथगेव प्रवदन्ति। इति। अतः काक्वा व्यवस्थापितमस्मद्व्याख्यानमेव वरम्। अन्यत् सर्वमसमञ्ज-समसङ्गतञ्च।

अन्यच्च भगवान् अभिदधौ सांख्ययोगौ पृथक् पृथक् स्तः। अत एव स अचकथत् यत् सांख्यस्य योगस्य वा कस्याप्येकस्य सम्यगनुष्ठाता उभयोः फलं विन्दते। अर्थात् सांख्यस्य सम्यगनुष्ठाता सांख्यस्य फलं तु प्राप्नोत्येव योगस्याऽपि फलं प्राप्स्यति। एवमेव योगस्य सम्यगनुष्ठाता योगस्य फलं तु प्राप्स्यत्येव सांख्य-स्यापि फलं प्राप्स्यति। अस्यायं मतलब इष्टलेशः अभिप्राय इत्यर्थः [मतिबुद्धि पूजार्थेभ्यश्चेति सूत्रे मतिरिच्छा बुद्धेः पृथगुपादानात्] सांख्यं योगा त्पृथक् तस्य फल-मपि योगात् पृथक्। योगः सांख्यात्ः पृथक् तस्य फलमपि सांख्यात् पृथक्। कुतः। यतो हि सांख्यस्य अधिकारी शुद्धान्तः करणोऽस्ति अतस्तस्य फलं मोक्षः। योगस्य सः अशु-द्धान्तः करणः अतस्तस्य फलमन्तःकरण शुद्धिः। अतएव भगवान् वक्ष्यति आरुरुक्षोः कृते कर्मयोगः। आरूढस्य तु कृते सांख्ययोगः शमः। अत एव ब्रह्मविदः "तस्य कार्यं न विद्यते" नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यम् इत्यादि कर्तव्यक्रियाभावस्मरणात्। कृतकृत्यस्य तस्य चक्षुषो रूपवद्बहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मोपलब्धिस्तेन नास्त्येव कतव्यक्रिया।

यस्माद् स्वाध्यायाभ्यसनवत् योगाभ्यासोऽपिक्रियैव। योगाभ्यासादौ प्रवृत्तो यतिः ब्रह्मविन्न हि भवति। यतः ब्रह्मवित्वे योगाभ्यासादिक्रिणामभाव एव तस्य कृते स्यात्।

अन्यच्च सांख्याः कर्मणामभावान् मनसः चञ्चलताया असत्वाच्च कदाचिदपि न भ्रंसन्ति कर्म योगिनस्तु मनसः चञ्चलत्वात् योगस्य स्थितिः स्थिरा न हि भवति अतस्ते भ्रष्टा अपि भवन्ति अतएव वक्ष्यति "योगभ्रष्टोऽभिजायते" ६।४१

सांख्यानां कृते तु भगवता उच्यते ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। इति। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति इति। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन इति च। अत एवाऽस्माभिरुदलेखि यत् "न पण्डिताः" इत्यत्र काकुः। अतोऽयमर्थः। बाला एव सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति किं पण्डिता न, अपितु पण्डिताः पृथक् प्रवदन्ति। अर्थात् एतयोः पृथक्तायाः प्रसिद्धिः पण्डितेष्वेव नियता न अपितु बालेष्वपि आपामारमपि सास्ति।

अन्यच्च यथा पुत्रनिरूपितपितृत्वं पितृनिरूपितपुत्रत्वमस्ति। अतः अनयोः परस्परं निरूप्यनिरूपकभावः सम्बन्धः। परं स्त स्तु तौ पृथगेव। पुत्र एकः पृथक् पदार्थः पिता एकः पृथक् पदार्थः न हि तौ एक एव पदार्थः। तथैव सांख्य योगयोरपि स्थितिः।

संन्यासस्तु महाबाहो! दुखमाप्तुमयोगतः। इति
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन। इति
योगसन्यस्त कर्माणमिति च।

ननु संन्यासः कर्मयोगश्च उभौ पृथक् स्तः इति कथं, यतः गीतासु "यं संन्यासमिति प्राहु योगं तं विद्धि" इत्येवं संन्यासमेव कर्मयोगं कथयति गीताकारः। इति चेत् फले सक्तो निगडितः सन् योगस्याभ्यसने एवप्रवर्त्स्यंति इति दूरं योगमार्गं न गन्तुं प्रभविष्यति सः। यः किल फलविषयिणीं स्पृहां वासनां सर्वथा आमूलचूलं त्यजति स एव योगमभ्यसितुं शक्तः स्यान्नान्यथा। एवं साध्यसा धनभावगर्भत्वमाश्रित्य गौण्या वृत्या कर्मफलवासनात्याग योगमाहुः। यथोच्यते

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् इति ।

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । ५।१८

अत्र कर्त्तृत्वं कर्माणि इति अनयोः पृथक् पदाभ्यां निर्देशः । किन्तु कर्त्तृत्वं माने [प्रमाणविषये माने इत्यस्यार्थः] कर्त्तृनिष्ठोधर्मः कर्मैव, नान्यत् । यथा पाचके वर्त्तमानो धर्मः पाचकत्वं पाचनकर्मैव नान्यत् मलमूत्रादि त्यागः । यथा गन्तुर्धर्मः गन्तृत्वं गमनम् कर्मैव नान्यत् पाचनादि । अतः कर्त्तृत्वस्य कथनेन कर्मणां प्राप्तेः पुनः कर्माणि पदोपादानं पुनरुक्तिग्रस्तम् ।

नादत्ते कास्यचित्पापं नचैव सुकृतं विभुः १५।१६ अत्र कथ्यते विभुः कस्या पापं पुण्यं न गृह्णाति । इति । परमत्र पृच्छा जागर्ति । यदि विभुः कस्यापि किमपि कर्म न गृह्णाति तदि कः किमर्थं स्वकर्मणो न्यासं भगवति विभौ करिष्यति । यतः न्यासकर्त्ता सः, यः स्वमुपस्थापयति । न्यासधर्ता सः यस्तस्य स्वं धरति आदत्ते अनयो-र्द्वयोः सामरस्ये एव सामञ्जस्ये एव न्यासकर्त्तृत्वं न्यासधर्त्तृत्वं च सिद्धान्तभूतं स्यात् । अन्यथा तु यदा तत्वनव न स्यात्तदा न्याप्स एव न; न्यासाऽत्सुखीभवनन्तु दूरापेतम् । एवं हि

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशीति गीतोक्तेः समन्वयः कथं केन कर्त्तुं शक्येत ।

विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । ५।१८

अत्र विद्याविनयसम्पन्नत्वं ब्राह्मणस्य विशेषणम् । अस्याभिप्रायं न विद्मः । कुतो ब्राह्मणस्यैवैतत् कुतो, न गोः कामधेनुत्वं नन्दिनीत्वम्, कुतो न हस्तिनः ऐरावत त्वादिकम् । कुतो न शुनि सरमात्वम् । सरमा हि देवानां शुनी । कुतो न श्वपाके प्रयोजन-वशाद्गहीत चाण्डालत्ववद्विश्वामित्रत्वम् । किं विशिष्टे एव ब्राह्मणे समस्य दर्शनं; न हि 'विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः" इत्येवं प्रतिपादिने जाति ब्राह्मणे समस्य दर्शनम् । तर्हि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किश्चन" इति श्रुतेः का गतिः स्यात् । अतः विदारणीयैषा गीतोक्तिः ।

ननु भोः गीतोक्तिः समञ्जसैव। सर्वं खलु इदं ब्रह्म इति श्रुतौ सर्वपदं सामान्यविशेषार्थकं तेन विद्याविनयसम्पन्नत्वं विशेषद्योतकं गवादिपदं सामान्यद्योतकम् : इति चेत्तर्हि तिर्यगर्थकं पक्षिपदं कुतो न। अथ च देवादिपदं कुतो न। अतः विचारणीयैवैषा उक्तिः।

इहै व तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। ५।१३ अत्र "येषां साम्ये" इत्यस्य स्थाने "समे येषां" इति पाठेन् भवितव्यम्। यस्मात् "समदर्शिनः ५।१८" इत्यत्र समपदार्थः ब्रह्म। तथा "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" इत्यत्रापि सम पदस्यार्थः ब्रह्म। एव स्थितौ अत्र यदि समत्वार्थके साम्ये इति पाठः स्यात् तदा समत्वं योग उच्यते इति। तथा "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" अत्र प्रतिपादित योगरूप साम्येन विरोधः स्यात्। यस्मात् "साम्ये स्थितमित्यस्य योगे स्थितमिति बुद्धिः स्यात्तेन समदर्शिनः इत्यस्य निर्दोषं हि समं ब्रह्म इत्यस्य च सङ्गतिर्न स्यात्। अतः गीतोक्तिर्विचारणीया।

न तेषु रमते बुधः। ५।२२ इत्यस्य केचित बुधो न रमते इत्येवं सरलार्थस्य विद्यमानत्वेऽपि तेषु इति नकारात् पृथक् पदं न मन्वतेऽपितु नतेषु नम्रेषु इत्यर्थकं समस्तं पदं मन्वते। तेन नतेषु उपनतेषु प्राप्तेषु भोगेषु यो रमते स बुधः। तेषु अनुपनतेषु अप्राप्तेषु भोगेषु यो रमते स अबुधः न अपितु अबुध एव। एवं रमते बुधः इत्यत्राकारं प्रलिष्टं मन्वते। एतत्सर्वं बुद्धेर्व्यायामः। शब्दानां कपरतं वर्त्तते। निकषपाषाणघर्षणमित्यर्थः। वस्तुतत्त्वमेकमेव।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्"

इत्यत्र विदितात्मनामभितः इति अभित पदस्य योगे षष्ठी व्याकरणनियमानुकूला नास्ति। तत्र तु "अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इतिवार्त्तिकोक्तेरनुसार द्वितीया अनुकूला। अतः आर्षी षष्ठी विभक्तिः।

इति पञ्चमाध्यायसमीक्षा पूर्णा।

—०✻०—

पञ्चम अध्याय की समीक्षा

बालक्रीड़ा

इस अध्याय में 'सांख्ययोगौ' इस ४ श्लोक में सांख्य और योग ये दो शब्द हैं। जो पहले द्वितीय अध्याय के ३५ वें श्लोक

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु २।३५

में भी आये हैं। उसके बाद ३ अध्याय के ३ श्लोक

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। ३।३।

में भी आये हैं। उसके बाद ५ अध्याय के ५ वें ६ ठें श्लोकों

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति।

में भी आये हैं। इनके अर्थों पर विचार करते हैं।

पहले प्रथम अध्याय में अर्जुन अस्त्र शस्त्र छोड़ कर रथ के उपस्थ पर बैठ गया। फिर २ अध्याय में युद्ध नहीं करूंगा कह कर चुप हो गया। इस पर भगवान् ने द्वितीय अध्याय में अर्जुन को समझाया कि यह दोष तुम में कहाँ से आगया। नपुंसकता को छोड़ो। खड़े हो जावो। जिनके लिये तुम शोक कर रहे हो वे भीष्म द्रोणादि महापुरुष शोक के योग नहीं हैं। ज्यादह बुद्धिमानी मत बघारो। देखो यह देह अवश्य नष्ट होने वाला है चाहे वह आज हो या सौ वर्ष के बाद हो। नष्ट होगा आवश्य किन्तु देही आत्मा जो इस देह से अलग है वह अजर है अमर है और अनन्त है अतः उसके विषय में तीन काल की तो बात ही क्या हैं अनन्त काल भी लग जाय तब भी वह जरने मरने वाला नहीं है ऐसी स्थिति है उनके विषय में शोक और मोह को छोड़कर युद्ध करो। पुण्यात्मा अत एव सुखी क्षत्रिय ही युद्ध की स्थिति को प्राप्त करता है।

इसके सिवाय यह भी बात हैं कि तुम्हारा जो स्तवसामर्थ्य है स्तुति को प्राप्त करने की योग्यता है उसके बदले में तुम निन्दा को प्राप्त करोगे। लोग तुम्हारी तुम्हारे गाण्डीव की मजाक करेंगे कि ढोल में पोल है इत्यादि। जो मरने से भी बदतर है। मरना तो देह का प्राणों के साथ जो सम्बन्ध है उसके छूटने के समय होने वाली क्षण भर की वेदना है। इसके बाद कुछ भी नहीं है। निन्दा तो यावज्जीवन चुभने वाला शल्य है। जो जबतक देह रहेगा तब तक चुभता रहेगा। अतः तुम युद्ध करो।

इस प्रकार युद्ध के करने के लिए देह की नश्वरता और आत्मा की अजरता एवं अमरता के विषय में तात्त्विक विवेक को समझा कर भगवान् ने कहा है कि हे अर्जुन! यह तुमको सांख्य के विषय में बुद्धि कही है अब योग के विषय में बुद्धि को कहता हूं सुनो। इस तरह तात्त्विकविवेक ही सांख्य है और करना ही कर्म योग है।

प्रासङ्गिक चर्चा "यहाँ सांख्य के बारे में बुद्धि को कहा अब योग के विषय में बुद्धि को सुनो।"

इससे यह प्रतीत हो गया कि शब्द ही कहने और सुनने के लायक गुण है यह बात नहीं हैं अपितु बुद्धि भी सुनने और कहने के योग्य गुण है

मूलकार ने सांख्य शब्द का तात्त्विक विवेक अर्थ किया है और योग का कर्म योग।

शाङ्कर भाष्य में सांख्य शब्द का परमार्थ वस्तु विवेक अर्थ लिखा है और योग शब्द का परमार्थ वस्तु के प्राप्ति का उपाय कर्म योग माने समाधि अर्थ लिखा है।

आनन्दतीर्थ ने मध्व भाष्य में लिखा है कि सांख्य ज्ञानहै और योग के माने उपाय है।

रामानुज भाष्य में सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञातव्य लिखा हैं इन्होने लिखा है कि संख्या के माने बुद्धि है अतः बुद्धि से अवधारणीय आत्म तत्व सांख्य है जो ज्ञातव्य है। योग शब्द का अर्थ है बुद्धि योग। यहाँ उनके शब्द हैं आत्मज्ञान

पूर्वक मोक्ष साधन भूत कर्मानुष्ठान के विषय में जो बुद्धि योग वक्तव्य है उसी को यहाँ योग शब्द से कहा है आगे भी कहेंगे हैं कि "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद धनञ्जय !" ।

अमृततरङ्गिणी टीका वल्लभभाष्य में सांख्य शब्द का आत्मज्ञान और योग शब्द का कर्मयोग अर्थ लिखा है।

पं० नीलकण्ठ जी ने भाव प्रदीप नामक अपनी टीका में लिखा है कि सांख्य का अर्थ उपनिषद है और उसमें जो विदित है ज्ञात है एवं अङ्गीकृत है वह सांख्य है ब्रह्म है। और योग माने समत्व है।

श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने लिखा है कि जो परमात्म तत्त्व का सम्यक् ख्यान करती है अर्थात् सर्वोपाधि शून्यत्वेन प्रतिपादन करती है वह संख्या है उपनिषद है और इसके जो अन्तिम तात्पर्य के रूप में प्रतिपाद्य है वह सांख्य है माने औपनिषद पुरुष है। और योग कर्म योग है।

भाष्योत्कर्षदीपिका में भाष्य के ही अक्षर हैं।

श्रीधराचार्य जी ने लिखा है कि संख्या सम्यक् ज्ञान है उसमे प्रकाशमान आत्मतत्व सांख्य है। और योग कर्म योग है।

तत्त्वप्रकाशिका में लिखा हैं कि अध्यात्मशास्त्र से होने वाली बुद्धि संख्या है उससे अवधारणीय तत्त्व सांख्य है। योग कर्म योग है।

शंकरानन्दी में लिखा है कि सांख्य परविद्या है उसमें प्रतिपाद्य निर्विशेष परब्रह्म सांख्य है। योग कर्म योग है।

सदानन्दी में मधुसूदनी के ही अक्षर हैं। परमार्थप्रपामें श्रीधर स्वामी के ही अक्षर हैं। अर्थ संग्रह में लिखा है कि जीवेश्वर के बारे जो ज्ञान है वह सांख्य शब्द का अर्थ है। जिसके द्वारा फल की प्राप्ति हो वह उपाय योग है। बुद्धि शब्द का अर्थ है बोधजनक वाणी। ये अक्षर मध्वभाष्य को भी सम्मत है।

शंकरभाष्य में व्यवसायात्मिका बुद्धि को सांख्य बुद्धि और योग बुद्धि कहा है। वहाँ लिखा है कि सांख्ये योगे च या बुद्धिः सा बुद्धिः "व्यवसायात्मिका"।

यहाँ द्वितीयाध्याय में सांख्य शब्द से कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र के बारे में कुछ भी निर्देश नहीं किया है। और योग शब्द से पतञ्जलि ऋषि के योग शास्त्र के बारे में कुछ भी निर्देश नहीं किया है।

ये द्वितीयाध्याय में आये हुए सांख्य और योग शब्दों की व्याख्याये संकलित की गई है। अब तृतीयाध्याय में आये हुए इन उक्त शब्दों की व्याख्याओं को देखें समझें।

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।३।३

यहाँ शंकर भाष्य में साख्य शब्द का परमार्थ वस्तु विवेकवान अर्थ लिखा है। परमार्थ वस्तु है आत्मा और विवेक है ज्ञान अतः आत्म विषयकज्ञानवान् अर्थ है। यह अर्थ योगी से मेल मिलाने के लिये सांख्य शब्द को अर्शाद्यजन्त बनाकर किया है। २ अध्याय में सांख्य का अर्थ परमार्थ वस्तु विवक लिखा है यहाँ उसका तादृश विवेकी अर्थ किया है। योगी शब्द तो स्पष्ट ही है। यहां कर्म योग में उपात्त कर्मशब्द का वर्णाश्रम विहित धर्म अर्थ माना है।

आनन्दतीर्थ के मध्व भाष्य में सांख्य शब्द का ज्ञानी अर्थ लिखा है। योगी शब्द स्पष्ट ही है।

रामानुज भाष्य में, वल्लभ भाष्य में नील कण्ठ के भावप्रदीप में मधुसूदनी में, तत्त्वप्रकाशिका में और शंकरानन्दी में उल्लिखित अर्थों की अपेक्षा कोई नया अर्थ नहीं लिखा है।

श्रीधरी मे सांख्यानां का अर्थ शुद्धान्तः करणानाम् लिखा है। और योगिनां का अर्थ अशुद्धान्तः करणानां कर्मिणाम् लिखा है।

सदानन्दी में भाष्योत्कर्ष दीपिका में, परमार्थ प्रपा में और अर्थसंग्रह में श्रीधर के ही अक्षर लिखे हैं नया कुछ नहीं है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने २ एवं ३अध्याय में इन शब्दों का स्पर्श भी नहीं किया है।

यह तृतीय अध्याय की कथा हुई। अब ५वें अध्याय की कथा सुनिये।

शाङ्करभ भाष्य में सांख्यशब्द का संन्यास और योग शब्द का कर्मयोग अर्थ लिखा हैं। यहाँ विवेचना भी है कि अर्जुन ने कर्म संन्यास एवं कर्म योग के वारे में पूछा है किन्तु भगवान् इसका उत्तर सांख्य और योग शब्द से देते हैं। इसका क्या तत्त्व है। इसके विपय में आचार्य कहते हैं कि ठीक है भगवान् ने अर्जुन के प्रष्टव्य अंश को विना छोड़े अभीष्ट अर्थ की सङ्गति करके उन शब्दों के अर्थों को कहा है अतः यह भी अर्थ है वह भी अर्थ है अपनी जगहों में दोनों अर्थ प्रकरण के अनुसार संगत है।

सभी टीकाकार प्रौढ पण्डित है परन्तु यह समझ में नहीं आता है कि विना निष्कर्ष निकाले ही गङ्गा गये गङ्गा नाथ और यमुना गये यमुना नाथ वन जाते हैं अतः मुझे इतना लिखना पड़ा।

अव निष्कर्ष यह है कि महर्षि पाणिनि के संकेत को किसीने लिखा है—

"सर्वे कामदुघा" शब्दाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः दाक्षी के पुत्र पाणिनि के मत में सभी शब्द कामधुक् हैं। जैसा चाहो वैसा अर्थ निकाल लो। अतएव वैयाकरण लोग कहते हैं सर्वे सर्वार्थ वाचकाः सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं। अतः प्रकरण के अनुसार प्रस्तुत अर्थ की संगति बैठा लेनी चाहिए।

फलतः सांख्य शब्द का सांख्य शास्त्र एवं योग शब्द का योग शास्त्र अर्थ है। सांख्यशब्द का ब्रह्म भी अर्थ है एवं योग शब्द का कर्म योग भी अर्थ है। सांख्यशब्द का ज्ञानी भी अर्थ है और योग शब्द का योगी अर्थ है। सांख्य शब्द का कर्मसंन्यास भी अर्थ है और योग शब्द का कर्मानुष्ठान समाधि भी अर्थ है। सांख्य और योग दोनों उपाय हैं सांख्य उपेय भी है किन्तु योग सभी मतों में उपाय ही है। सांख्य और योग एक है मानें मुख्य हैं केवल भी है यानी स्वतन्त्र है। सांख्य और योग ये दो निष्ठायें हैं ये दो तभी होंगी जब ये भिन्न२ होंगी। एकता में अभिन्नता में भेद असम्भव है। जब स्पष्ट रूप से द्विविधा शब्द का उपादान किया है तब भेद हुए विना द्विविधात्व की फिटिङ्ग कैसे होगी। सांख्य और योग में साध्यसाधन भाव हैं अतः सांख्य साध्य है और योग साधन है।

सांख्य योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः

कोई लोग इस श्लोक का सांख्य और योग पृथक् पृथक् हैं ऐसा बालेक कहते हैं। किन्तु पण्डित ऐसा नहीं कहते हैं'' ऐसा अर्थ कहते हैं। उन लोगों से पूछना है कि ऐसा अर्थ करने का आप के पास आधार क्या है। क्यों कि यहां ऐसा अर्थ तभी हो सकता है जब यहाँ सांख्य योगौ पृथक् इति बाला ऐसा इति घटित पाठ होता है। अथवा किन्तु पण्डिता न ऐसा किन्तु घटित पाठ होता। प न्तु यहां ऐसा पाठ नहीं है तब किस आधार से ऐसा अर्थ कहेंगे। यहां तो बालाः कत्तृ पद है सांख्य योगौ कर्मपद है और प्रवदन्ति क्रियापद हैं। यहां वाक्य गत काकु है अतः सांख्य योग को बालक पृथक् कहते हैं पण्डित नहीं ! अपितु पण्डित भी इनको पृथक् पृथक् हैं यह तथ्य पण्डितो में तो प्रसिद्ध ही है बलकों तक भी प्रसिद्ध है आपामर प्रसिद्ध है।

प्रश्न – ऐसा काकु संवलित अर्थ करने को आप के पास आधार क्या है। उत्तर यहां की भाषा ही ऐसा अर्थ करने का आधार है। वह भाषा है कि एक का भी सम्यक् आश्रयण करने वाला दोनों के फल को प्राप्त करता है। क्यों कि ये दो होगे तभी कोई कहेगा कि इसमें से एक का भी और दोनों के फल को प्राप्त करता है यदि ये एक होते तो ऐसी भाषा का प्रयोग कभी नहीं होता। यह एक उत्तर है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेय सकरावुभौ
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

यहां च पद और उभौ पद तुपद और विशिष्यते पद ये सब बतलाते हैं कि सांख्य और योग दो हैं। यदि ये एक होते तो इन ४ पदों का प्रयोग गीताकार नहीं करते। इनमें चकार का अर्थ समुच्चय है अतः यह चकार निश्रेयस करण में संन्यास के साथ कर्म योग का समुच्चय करता है। उभौ स्पष्ट ही इनको दो कहता है। तु बतलाता है कि ये दोनों निश्रेयस करने वाले हैं किन्तु इनमें कर्म योग विशिष्ट है। इससे समझिये कि यदि ये एक होते तो इस तरह वैशिष्टय बतलाने का अवसर आना कभी नहीं आता। यह दूसमा उत्तर है है।

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"

जिस स्थान को सांख्य वाले प्राप्त करते हैं योगी लोग उसके लिए गमन करते हैं। माने योगी लोग उस तरफ जाते हैं। यहाँ का आशय है कि सांख्य वाले जिसको प्राप्त कर लेते हैं उसके लिए योगी लोग गतिशील होते हैं। यदि ये एक होते तो इन प्राप्यते और गम्यते जैसे विभिन्नार्थक पदों का प्रयोग करके एकप्रसरता का भंग नहींकरते। अर्थात् या तो प्राप्यते प्राप्यते कहकर या फिर गम्यते-गम्यते कहकर एकप्रसरता को बनाई रखते। अतः यह भंग करना बतलाता है कि ये दो भिन्न-२ हैं। यह तीसरा उत्तर है।

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः।

हे महाबाहो ! योग के बिना अकेला संन्यास दुःख को प्राप्त करने के लिए होता है। यदि सांख्य और योग एक होते तो अथवा जो सांख्य से मिलता है वह योग से मिलता होता या जो योग से मिलता है वह सांख्य से मिलता होता तो "दुःखमाप्तुमयोगतः ऐसी साध्यासाधनभाव गर्भा भाषा का प्रयोग गीताकार नहीं करते। यह चौथा उत्तर है।

एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति।

यहाँ सांख्य और योग को एक कहने का क्या मतलब है। [मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च इस सूत्र में मति और बुद्धि दोनों का उपादान किया है अतः मति का अर्थ है इच्छा तदनुसार मतः का अर्थ इष्ट हैं लव माने लेश है अतः मतलब माने इष्टलेश अर्थात् अभिप्राय है] क्योंकि कोषों में एक शब्द के

एकं संख्यान्तरे श्रेष्ठे केवलेतरयोरपि। मेदिनी कोष

एकाकी एक एकलः। एके मुख्यान्यकेवलाः। भिन्नार्थका

अन्यतर एकस्त्वोऽन्येतरावपि। अमरकोष।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा

सधर्मिणि समाने च संख्यायाञ्च प्रयुज्यते।

संख्या, श्रेष्ट (प्रधान) केवल, इतर, भिन्न, एकाकी, एकल, प्रथम (आदिम) सधर्मा एवं समान १० ये दश अर्थ लिखे हैं।

इनमें यदि समान अर्थ एक शब्द का मानते हैं तब जैसे घट और कलश समान है वैसे सांख्य और योग समान है तब तो ये सांख्य और योग शब्द घट और कलश की तरह पर्यायवाची हुए। ऐसी स्थिति में "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" यह कथन नहीं बनेगा। क्यों कि

सांख्य और योग तो एक ही वस्तु है अतः सांख्य के विषय में कहा माने योग के विषय में कहा और योग के विषय में कहा माने सांख्य के विषय में कहा अर्थात् वक्तव्य सम्पन्न हो गया कहने के लिए कुछ बचा ही नहीं। तब क्या कहते हैं योग के विषय में सुनों! यह तो पिष्ट पोषण होगा। किन्तु सिद्धान्त है (पिष्टस्य पेषणं नास्ति) जो गेहूं आदि पीस लिये गये उनको फिर पीसना नहीं होता है।

और यदि एक शब्द का केवल अर्थ करते है तब सांख्य एक है केवल है माने योग नहीं है या योग एक है केवल है अर्थात् सांख्य नहीं है यही निर्णय निकलता है परन्तु प्रकृति की संगति नहीं हुई। और यदि योग शब्द का मुख्य अर्थ करते हैं तब साख्य भी मुख्य है और योग भी मुख्य है अतः स्वतन्त्र है। और यदि एक शब्द का अन्य अर्थ करते हैं तब ये दोनों भिन्न भिन्न हैं। अर्थात् सांख्य पृथक है योग पृथक है। ऐसी हालत में फिर कहते हैं सांख्य और योग को पृथक बतलाना बालकों का काम है पण्डितों का नहीं अतः यह सब अटपटी व्याख्या है। अतः काकु के द्वारा व्यवस्थापित हमारी व्याख्या ही ठीक है समञ्जस है अन्य व्याख्याएँ सब असमञ्जस हैं।

एक बात और भी है कि भगवान् ने स्वयं सांख्य और योग को पृथक् पृथक् कहा है। इसी लिए उन्हों ने कहा कि सांख्य का अथवा योग का किसी एक का भी सम्यक् आश्रयण करने वाला सांख्य के फल को तो प्राप्त करेगा ही योग के भी फल को प्राप्त करेगा इसी तरह योग का सम्यक् आश्रयण कर्त्ता योग के फल को तो प्राप्त करेगा ही सांख्य के फल को भी प्राप्त करेगा। इसका मतलब हुआ कि सांख्य पृथक् है और उसका फल भी पृथक् है। योग पृथक् है उसका फल भी पृथक् हैं। क्यो कि सांख्य का अधिकारी है शुद्धान्तः करण है अतः उसका फल है मोक्ष। योग का अधिकारी है अशुद्धान्तःकरण अतः उसका फल है अन्तः करण की

शुद्धि । इसी लिए भगवान् कहेगें की ग्रारुरुक्षोः के लिए कर्म योग है और ग्रारूढ के लिए सांख्य योग है ।

एक बात ग्रौर भी है कि सांख्य वाले लोग कभी भ्रष्ट नही हो सकते हैं किन्तु योग वाले लोग मन की चञ्चलता के कारण योग के स्थिर नहीं होने से ग्रपनी स्थिति से भ्रष्ट भी हो जाते हैं इसी लिए भगवान् ने कहा कि—

योगभ्रष्टोऽभिजायते ।६।४१

किन्तु सांख्यवालों के लिए भगवान् कहते हैं कि—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुनः । इत्यादि ।

इसी लिए हमने लिखा है न पण्डिता में काकु है फलतः उसका अर्थ है कि बालक ही सांख्य और योग को पृथक् कहते हैं पण्डित नहीं ? ग्रपितु पण्डित भी उनको पृथक् कहते हैं । ग्रर्थात् इनके पृथक्ता की प्रसिद्धि पण्डितों तक ही सीमित नहीं है बालकों तक फैली हुई है । यानी आयाम इसकी प्रसिद्धि है ।

एक बात यह भी है कि जैसे पितृनिरूपत पुत्रत्त्व है वैसे पुत्रनिरूपित पितृत्व है अतः इनमें परस्पर में निरूप्यनिरूपक भाव है ठीक है किन्तु वे दोनों पृथक्-पृथक् हैं पुत्र एक स्वतन्त्र पदार्थ है और पिता एक स्वतन्त्र पदार्थ है । उसीतरह योग के विना सांख्य नहीं है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः इति ।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । इति ।

सांख्य के विना योग नहीं है

नह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन । योगसंन्यास्त कर्माणमित्यादि ।

प्रश्न—योग के विना सांख्य नहीं है ऐसा कहां कहा हैं गीताकार ने तो योग के विना संन्यास नही है ऐसा कहा है ।

उत्तर—संन्यास की व्याख्या सांख्य पद से की ग्रतः गीता में संन्यास को सांख्य पदार्थ कहा है जैसः कि गीताकार ने । संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ के प्रसङ्ग में ही सांख्ययोगौ पृथग् बालाः श्लोक कहा है

प्रश्न—तुम कहते हो कि सांख्य और योग पृथक् हैं किन्तु गीताकार ने ये संन्यासमिति प्राहुः योगेतं विद्धि पाण्डवः ! हे पाण्डव ! जिसको तुम संन्यास कहते हैं उसको तुम योग समझो इस तरह संन्यास को ही योग समझने के लिए कहा है।

उत्तर—कर्म के फल में स्पृहा रखने वाला व्यक्ति फ ले सक्तो निबध्यते के अनुसार फल में फंसने के कारण योगाभ्यास के मार्ग में ही नहीं जा सकता है योगाभ्यास करना तो दूर रहा। क्योंकि फल में जिसका मन आसक्त हो गया है उसका एकाग्र होना कठिन है। क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है साथर बड़ा प्रमाथी है विकल भी कर देता है अत वह योगमार्ग में साधक को जाने ही नहीं देता है। अतः योगाभ्यास वही कर सकता है जो फल की स्पृहा को फल की वासना को आमूल चूल त्याग कर देगा। अतः गौणी वृत्ति से कर्म फल के संन्यास को योग कहा है। जैसा कि गीताकार नें स्वयं कहा है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

कर्म के फल का त्याग करने वाला योगी शान्ति को प्राप्त कर देता है।

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ५।१४

यहाँ कर्त्तृत्व और कर्मों को अलग-अलग शब्दों से कहा हैं किन्तु कर्त्तृत्व का अर्थ है कर्त्ता में रहने वाले कर्म। जैसे पाचक में रहने वाला पाचनकर्म ही पाचकतत्व है गन्ता में रहने वाला गमन कर्म ही जनतत्व है यात्री में रहने वाली यात्रा क्रिया ही यातित्व है अतः न कर्त्तृत्वं न कर्माणि यह कथन पुनरुक्ति ग्रस्य है।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ५।१३

यहां कहते हैं कि विभु किसी के पाप एवं पुण्य को नहीं लेते हैं किन्तु आगे कहेंगें कि—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

जो सब कर्मों को सावधानी से मेरे मे रख देता है वह वशीसुख पूर्वक रहता है। किन्तु जब भगवान् किसी के भी कर्म को ग्रहण नहीं करते हैं तब कौन किस

लिये अपने कर्मों का न्यास भगवान् में करेगा। क्योंकि न्यास कर्त्ता वह है जो अपने स्वं को दूसरे में रखता है और रखने वाला वह है जो दूसरे के स्व को अपने यहां धरता है। अर्थात् इन दोनों की रजामन्दी में ही सामरस्य में ही न्यासकर्तृत्व एवं न्यास धर्तृत्व सिद्धान्तभूत हो सकेगा अन्यथा नहीं। जब न्यासकर्तृत्व एवं न्यास-धर्तृत्व ही सिद्ध नहीं होगा और फलतः न्यास ही नहीं हो सकेगा तब सुखी होना तो बहुत दूर है। इस वास्ते भगवान् की यह उक्ति "सर्वं कर्माणि" कैसे समर्थित होगी; विचारणीय है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्रह्मणे गवि हस्तिनि ।५।१८।

यहां विद्याविनयसम्पन्नत्व ब्राह्मण का विशेषण दिया है। किन्तु इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है। क्यों कि ब्राह्मण में ही विशेषण क्यों दिया गौ में हाथी में किसी में भी विशेषण नहीं दिया वहां भी तो विशेषण दे सकते थे। उन सबको निर्विशेष कहा और इस को सविशेष कहा इसका क्या हेतु है।

"विद्यातपोभ्यां यों हीनो जातिब्राह्मण एव सः"

इस तरह स्मृति में कहे हुए जाति ब्राह्मण में ब्रह्म नहीं है क्या। यदि इस भी ब्रह्म होता तो गौ आदि की तरह ब्राह्मण को भी निर्विशेष कहते। क्यों कि गौ में भी कामधेनुत्व, नन्दिनीत्व हार्थी में एरावतत्व आदि, कुत्ते में सरमात्व (सरमा देवताओं की कुतिया थी) श्वपाक में भी प्रयोजन विशेष के लिए चाण्डालत्व को ग्रहण करने वाले विश्वामित्र के धर्म विश्वामित्रत्व को कह सकते थे। ऐसी हालत में ब्राह्मण में ही विशेषण देने का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। एक बात और भी है।

सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन"

यह सब कुछ ब्रह्म ही है ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इस गीतोक्ति की कौन गति होगी अतः यह गीतोक्ति विचारणीय है।

इस पर कहते हैं गीतोक्ति समञ्जस ही हैं। क्यों कि श्रुति में सर्वपद सामान्य और विशेष सभी के लिए है। अतः विद्याविनय सम्पनत्व विशेष का द्योतक है। और गवि हस्तिनि यह सामान्य के द्योतक है। इस पर हमारा कहना है कि जब ऐसी ही बात है तब तियक् योनि के जीवों के निर्देश के लिए पाक्षी को, उत्तम योनि के जीवों के निर्देश के लिए।

विद्याधराप्सरोयक्ष रक्षोगन्धर्व किन्नराः

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।

इन देव योनियों को क्यों नहीं कहा अतः विचारणीय है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषा सम्ये स्थितं मनः।

यहाँ साम्ये के स्थान पर समे पाठ होना चाहिये क्यों कि सम दर्शिनः ५।१८ में समपदार्थ ब्रह्म है। तथा "निर्दोष हि सम ब्रह्म" यहाँ भी ब्रह्म को ही सम कहा है। यदि साम्ये कहेगें तो उसका अर्थ है समत्व। तव समत्वं योग उच्यते के अनुसार साम्य का अर्थ योगे होगा तथा योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन! इसमें साम्य को योग कहा है अतः परस्पर में संगति कैसे होगी। एक बात और भी है कि ब्रह्म निर्धर्म है साम्य एक धर्म है। यदि स्वार्थ में ष्यञ् करके समन्वय करेगें तब भी समे ऐसा कहने से ही सौन्दर्य आ सकता है। तब द्रविड प्राणायाम करने की क्या आवश्यकता है। एक बात यह भी है। कि आपने सम के अर्थ में सम्य का प्रयोग किया किन्तु अन्य लोग सम्ये स्थितं का योगे स्थितम् अर्थ करेगे तब विरुद्ध बुद्धि ही तो होगी।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।

यहां विदितात्मताम् अभितः यह अभितः के योग शष्ठी विभक्ति अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, योगेऽपि इस वार्तिक के अनुसार अनुल नहीं है। यहां द्वितीया विभक्ति का होना ही रनुकूल है। अतः यहां षष्टी विभक्ति आर्षी है।

इस पञ्चमध्याय की समीक्षा समाप्त हुई।

—*०*—

षष्ठः अध्यायः

अथ अब षष्ठ अध्याय का आरम्भ करते हैं।

अनाश्रितः कर्म फर्म कार्यं कर्म करोति लंयः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव!
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

बालक्रीड़ा

जो कर्म के फल का आश्रय नहीं करके कर्म करता है अर्थात् मैं इस कर्म को करता हूँ मुझे इसका फल अवश्य मिलेगा ऐसी आशा नहीं करके मेरा यह कर्तव्य है मुझे इसे करना चाहिए ऐसा समझकर कर्म करता है वह संन्यासी है और योगी है। जो तो अग्नि माने अग्न्याधान, और क्रिया माने अग्न्याधान साध्य कर्म करने का अधिकारी होता हुआ भी उनको नहीं करता है यानी निरग्नि है एवं अक्रिय है वह क्या संन्यासी एवं योगी कहने के योग्य है, नहीं है। जो तो इनके करने का अधिकारो ही नहीं है या कर ही नहीं सकता है अतः स्वतः निरग्नि है और अक्रिय है उसे संन्यासी और योगी कहने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यहाँ का भाव यह है कि निरग्नि माने अग्न्याधान नहीं करने वाला और अक्रिय माने कर्म नहीं करने वाला संन्यासी और योगी नहीं है अर्थात् अग्नि रखने वाला और कर्म करने वाला संन्यासी और योगी है किन्तु कर्म फल का आश्रय करने वाला या कर्म फल की आशा रखने वाला संन्यासी नहीं है और योगी नहीं है। १।

हे पाण्डव! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं उसको तुम योग समझो। क्योंकि विना संकल्पों के संन्यास किये कोई योगी हो ही नहीं सकता है अर्थात् संन्यासी ही योगी है अतः संन्यास योग है। २।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बालक्रीड़ा

योग पर आरोहण करने की इच्छा वाले मुनि के लिए कर्म को आरोहण का कारण कहा है और जो योग पर आरूढ़ हो गया उस मुनि के लिए शम माने सब कर्मों के त्याग को सिद्धि का कारण कहा है । ३ ।

जब योगी इन्द्रियार्थों माने विषयों में तथा विषयों के साधन कर्मों में आसक्ति नहीं करता है तब वह सम्पूर्ण संकल्पों का संन्यास करने वाला योगारूढ कहाता है । ४ ।

परिशोधन किये हुए मन से आत्मा का माने अपना उद्धार करे अर्थात् आत्मा को (स्थूल शरीर अन्नमयकोश, सूक्ष्म या लिंग शरीर प्राणमय कोष एवं अविद्यारूप कारण शरीर आनन्दमय कोश) इन तीन शरीरों से अलग नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप वाला निश्चय करे और वासनाओं के आस्वाद से यानी मन के ताप से आत्मा को अवतप्त नही करे ' क्योंकि मन का प्रेरक भी आत्मा ही है इस लिए सुकृतप्रेरक आत्मा ही अपनें आप का बन्धु है और दुष्कृतप्रेरक आत्मा ही अपने आपका शत्रु है । ५ ।

जिस पुरुष ने आत्मस्वरूप के विचार से मन को जीत लिया है अपने वश में कर लिया है उसका वह मन बन्धु है । अनात्मा जो अविवेकी है उसका मन शत्रुभाव में स्थित हुआ शत्रुवत् व्यवहार करता है । ६ ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

बालक्रीड़ा

शीत और उष्ण, सुख, और दुःख, एवं मान और अपमान के वारे में माने इनके विषय में व्यापृत होने वाले मन को जीत कर जो प्रशान्त भाने संकल्प रहित है अत एव जो प्रसन्न चित्त हो गया है उसके लिए परमात्मा समाधि का विषय होता है। अर्थात् वह योगी समाधि में परमात्मा का ब्रह्म सुख का साक्षात्कार करता है। यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् । ७ ।

ज्ञान परोक्षात्मक शास्त्रजन्य बोध और विज्ञान अनुभवात्मक आत्म-साक्षात्कार माने आत्मा का साक्षाद्दर्शन इन दोनों प्रकार के बोधों से जिसका आत्मा स्वरूप चैतन्य तृप्त है जो कूट की तरह निर्विकाररूप में स्थित है तथा जिसने इन्द्रियों को विशिष्ट रूप से जीत लिया है और जो पत्थर और सुवर्ण को समान समझता है वह योगी युक्त है ऐसा कहते हैं । ८ ।

सुहृत् परोक्ष में भी हित करने वाला यानी प्रत्युपकार की अपेक्षा नही कर के भी उपकार करने वाला । मित्र प्रत्यक्ष में हित करने वाला । अरि अपकार करने वाला । उदासीन हित और अहित से अलग रहने वाला अर्थात किसी का भी पक्ष नही लेनेवाला या करने वाला । मध्यस्थ दो विरोधियों के बीच में रहने वाला बिचौला हिती के साथ हो जाने से हित करने वाला और अहिती के साथ रहने पर अहित करने वाला अर्थात् स्वतः कुछ नही करने वाला । द्वेष्य बुरा चाहने योग्य द्वेषी बुरा करने वाला अर्थात् अवाञ्छित तत्व अरि. बुरा कहने वाला रिपु, न्यायप्राप्त वस्तु को नही देने वाला या नही दिलाने वाला अराति, तिरस्कार करने वाला या शातन अर्थात घात करने वाला शत्रु ये सब शत्रु के बोधक वर्ग ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

बालक्रीड़ा

साधु सदा अच्छा ही करने वाला । असाधु सदा बुरा ही करने वाला । इन सब में जो समबुद्धि है ब्रह्म दृष्टि रखता है यानी इन सबको समान भाव से ब्रह्म समझता है वह विशिष्ट योगी है क्योंकि पण्डिताः समदर्शिनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म कहा है । ९ ॥

वह योगी अकेला एकान्त में स्थित होकर संयम के द्वारा चित्त को फलाशा से कामनाओं से और शरीर को स्वोपयोगी वाह्य परिग्रहों से सामग्रियों से रहित कर के आत्मा को अन्तःकरण को निरन्तर समाधि में लगावे योगाभ्यास करे । १० ॥

अन्तः करण को योग में समाहित करने की अर्थात् योगाभ्यास करने की रीति को बतलाते हैं । योग का अभ्यास करने वाला योगी पवित्र स्थल पर अपने आसन को स्थापित करे जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो जिस में चैल (वस्त्र) अजिन (मृगचर्म) एवं कुशों का उत्तरोत्तर विन्यास किया गया है यानी पहले कुश बिछावे उसपर मृग चर्म फिर कोमल वस्त्र रेशमी या ऊनी या सूती कपड़ा बिछावे । उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करते हुए चित्त और इन्द्रियों के रोकने का यत्न करे इसके बाद आत्मा का शुद्ध मान जिस प्रकार से हो जाय उस प्रकार का योग करे । ११ । १२ ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।१४।।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।१५।।
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

बालक्रीड़ा

शरीर शिर (मस्तक) ग्रीवा (गले) को सीधा अचल कम्पा रहित एवं स्थिर ठहरा हुआ धारण करे, अपनी नासिका के अग्रभाग मात्र को देखे किन्तु इधर उधर नही ताके। मन को संकल्पों से रहित करके भय रहित हो जावे और ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित रहे अर्थात् स्त्री के संग की चर्चा, प्रेक्षण ध्यान, संकल्प, वार्त्ता, केलि, मिलने की चेष्टा रूप अध्यवसाय एवं क्रिया निवृंति इन आठ प्रकार के मिथुन भाव से वीर्य को खण्डित नही करे। [धारणा ध्यान एवं समाधि इन तीनों के द्वारा मन को एक वस्तु में संयत करना मनः संयम कहलाता है] इस संयम से मनको एक वस्तु पर ठहरा कर मच्चित्त एवं मत्पर हुआ अर्थात् परमात्मा अन्तर्यामी मुझ मे चित्त को लगा कर मुझको सबसे परे समझता हुआ युक्त होकर बैठे यही योग का स्वरूप है। १३। १४।

अब इस योग के फल को कहते हैं—इस प्रकार मन का नियमन करके सर्वदा अपने को योग समाधि में निरत रखने वाला योगी मेरे स्वरूप में रहने वाली निर्वाण परमा शान्ति को प्राप्त करता है। अर्थात् ब्रह्म में निवृंत होना ही जिसका परम लक्ष्य है ऐसी शान्ति को प्राप्त करता है। १५।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

बालक्रीड़ा

हे अर्जुन ! अत्यन्त भोजन करने वाले का, न एकान्त माने बिलकुल भोजन नहीं करने वाले का और न अत्यन्त सोने वाले का तथा न अतिशय जागरण करने वाले का योग सिद्ध होता है। १६।

अब जिसका योग सिद्ध होता है उसको बतलाते हैं—

जिस योगी का आहार भोजन और विहार रहन सहन युक्त है यानी जो योगी परिमित मात्रा में भोजन करता है और युक्ति से रहता है। जिसकी कर्मों मे युक्ति से रीति से चेष्टा है व्यवहार है और जो सोने एवं जागने में युक्ति का औचित्य का वर्त्ताव करता है अर्थात् जो समय की उचित व्यवस्था में सोता है और जागता है उसका योग सिद्ध होता है जो दुःखों का नाश करता है। १७।

जब योगी का चित्त निश्चल होकर सम्पूर्ण कर्मों से निस्पृह हुआ आत्मा में ही स्थित हो जावे तब वह योगी युक्त कहलाता है। १८।

चित्त की निश्चलता के विषय में दृष्टान्त देते हैं—

वायु रहित प्रदेश में रखा हुआ दीपक जैसे हिलता नहीं है वह उपमा वह तुलना अपने को समाधि में स्थित करके चित्त को वश में करने वाले योगी के चित्त की कही है। १९।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

बालक्रीड़ा

जहां योग की सेवा से समाधि के अनुष्ठान से रुका हुआ योगी का चित्त उपराम को प्राप्त होता है । जहां आत्मा के अवलम्ब से आत्मा को देखता हुआ योगी अपने आप में सन्तुष्ट होता है । २० ।

जो सुख आत्यन्तिक है यानी जो सदा एक रस रहने वाला है और जो अतीन्द्रिय है माने इन्द्रियों से दूर है माने उनसे वेद्य नही है अत एव आत्मा का अवलम्बन करने वाली वुद्धि से ग्रहण किया जाता है उस सुख को जिसमें स्थित हुआ योगी जान लेता है और जान लेने के वाद तत्त्व से विचलित नहीं होता है । २१ ।

जिसको प्राप्त करने के वाद वह योगी उससे श्रेष्ठ प्राप्तव्य किसी को भी नही मानता है । अत एवं जिस में स्थिर हो ने वाला योगी भीषणः दुःख से भी विचलित नही किया जाता है । २२ ।

दुःखों के संयोग का सम्पर्क का जो वियोग करने वाले अर्थात् जो दुःखों के सम्वन्ध से हटाने वाला है उसकी संज्ञा उसका नाम योग जानो । अर्थात् दुःखों के संयोग के विरुद्ध योग करा देने से यह योग संज्ञा को प्राप्त हुआ है । उस योग का आयोजन अनुष्ठान निश्चय ही अनिर्विण्ण चित्त से अर्थात् निर्वेद रहित चित्त से करना चाहिए ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थ मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

बालक्रीड़ा

संकल्प से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कामों का निःशेप रूप से त्याग करके समन्ततः चारों तरफ़ से सम्पूर्ण इन्द्रियों का मन से नियमन करें ॥२४॥

धैर्य से स्थिर की गई बुद्धि के द्वारा शनैः शनैः विषयों से उपराम करे। और मन को आत्मा में स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन नहीं करे। यानी किसी भी विचार को मन में नहीं आने दें। बस यही समाधि का स्वरूप है ॥२५॥

अब समाधि के स्वरूप को जान लेने का फल कहते हैं कि यह चञ्चल अतएव किसी भी जगह स्थिर नहीं होने वाला मन जिस-२ विषय का अवलम्बन कर समाधि से निःसरण करे उसी उसी विषय से उसको रोककर अपने वश में करे। यही अभ्यास कहलाता है ॥ २६ ॥

योग के अभ्यास से जिसका मन प्रशान्त हो गया है यानी नाना प्रकार के संकल्पों से रहित हो गया है और रजोगुण के नष्ट हो जाने से जो पाप रहित हो गया है उस ब्रह्मभूत योगी को उत्तम सुख मिल जाता है ॥ २७ ॥

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

बालक्रीड़ा

इस प्रकार सदा अपने को योग में लगाने वाला योगी पापों को नष्ट कर अनायास से ब्रह्म के अनुभव रूप उस अत्यन्त सुख को प्राप्त करता है। जहां से फिर गिरता नही है । २८ ।

अपने को योग में लगाने के फलस्वरूप जो सब में सम का ब्रह्म का दर्शन करता है वह योगी अपने में सम्पूर्ण भूतों को तथा अपने को सम्पूर्ण भूतों में स्थित देखता है । २९ ।

जो योगी सब में मेरे को जानता है और मेरे मे सबको जानता है उस के लिए मैं अदृश्य नहीं हु वह भी मुझ से अदृश्य नही हैं । णश अदशने धातु से प्रणश्यति और प्रणश्यामि बनता है अतः यहां उक्त पदों का अदृश्य अर्थ करना चाहिए । ३० ।

एक भाव में समभाव में उपस्थित हुआ जो योगी सम्पूर्ण भूतो में अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझको भजता है वह सब प्रकार की प्रवृत्तियों में लगा हुआ भी मेरे में लगा हुआ है ॥३१॥

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी तुलना से सब भूतों को अपने सम तुल्य देखता है। अपने सुख के समान दूसरे के सुख को और अपने दुःख के समान दूसरे के दुःख को समझता है वह योगी सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अर्थात्

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

बालक्रीड़ा

जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही दूसरे को भी सुख प्रिय है और जैसे मेरे को दुःख अप्रिय है वैसे ही दूसरे को भी दुःख अप्रिय है ऐसा जो अनुभव करता है उस योगी को श्रेष्ठ माना है । ३२ ।

हे मधुसूदन ! इस तरह समभाव से सर्वभूतों को समझने के स्वरूप जिस योग को तुम ने कहा हैं इसकी स्थिति को मन के चञ्चल होने से मैं स्थिर नही समझता हूं । ३३ ।

हे कृष्ण ! यह मन चञ्चल है प्रमाथी हैं माने अत्यन्त व्याकुल करने वाला है बलवान् है और दृढ़ है अपने स्वभाव से नही हटने वाली है । विषयों से रोकने पर भी रुकता नही है अतः बलवान् है । रोक दिया हुआ भी जबरन् विषयों पर पहुंच जाता है अतः दृढ है । फलतः वायु के रोकने के समान इसके रोकने को कठिन मानता हूं । ३४ ।

श्रीभगवान् बोले हे महाबाहो ! यह मन बड़ा चंचल है इसको रोकना बडा कठिन है । इस में संशय नही है । परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से इसका निग्रह हो जाता है ।३५।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

बालक्रीड़ा

हे कुन्तीपुत्र। यह मेरा निश्चित मत है कि जो योगी सावधान नहीं है जिसका मन संयत नहीं है। उसके लिए योग दुप्राप है। अर्थात् वह योगी नहीं हो सकता है। किन्तु जिस ने तो अपने स्वभाव को वश में कर लिया है अतः सावधान है वह उपाय से मानें अभ्यास और वैराग्य रूप यत्न से मन को वश में करके योग को प्राप्त कर सकता है अर्थात्योगी हो सकता है। ३६ ।

अर्जुन बोले हे कृष्ण ! श्रद्धालु होता हुआ भी जो अयति है यत्न शील नहीं है अत एव मनो निग्रह के अभाव में जो योगा भ्यास से विचलित हो गया है। अर्थात् श्रद्धा से उपाय में लगा हुआ भी असावधानी से मन को नहीं जीत सका है वह योग की उत्तम सिद्धि को प्राप्त नहीं कर के किस गति को जा पहुंचेगा । ३७ ।

हे महाबाहो ! ब्रह्म के मार्ग में विमूढ हुआ अर्थात् ठीक २ लक्ष्य के मार्ग के ज्ञान नहीं होने से भटक गया है अत एव अप्रनिष्ठ अर्थात् स्थिर नहीं होने के बदौलत दोनों तरफ से यानी संसारी भोगों से एवं योग के लक्ष्य से भ्रष्ट हुआ यह योगी कहीं अभ्र माने मेघ की तरह छिन्न-भिन्न होकर नष्ट तो नहीं हो जायगा । ३८ ।

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूर्णरूप से दूर करने के योग्य आप ही है आप से अन्य कोई भी इस संशय का छेदन करने वाला नहीं हो सकता है। ३९ ।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥

बालक्रीड़ा

श्री भगवान् ने कहा कि हे पार्थ ! इस लोक में तथा पर लोक में उसका विनाश नही होता है जो ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में लगा हुआ है। क्यों कि हे तात ! हे प्यारे ! कल्याण करने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नही करता है। अर्थात् तीनों काण्डों में प्रतिपादित सद्धर्म के साधनों में लगने वाले की दुर्गति नही होती है। यहाँ का भाव यह है कि जिस शुभ मार्ग में प्रवृत्त हुआ साधक जहाँ से स्खलित हुआ है वहीं से उस का वह शुभ आरम्भ हो चुका है जब तक वह उस के ऊपर नही पहूंच जायेगा तब तक कभी नष्ट नही होगा।४०।

यदि उस शुभ कर्म के द्वारा योगी को किसी कामना विशेष की सफलता मिल नही गई होगी तो वह योगभ्रष्ट योगी कामना के अनुसार पुण्यात्माओं के निवास के योग्य उत्तम लोकों में बहुत वर्षों तक निवास करके सद्धर्म से पवित्र श्रीमानों के घरों में जन्म लेता है। ४१।

अथवा धीमान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। किन्तु ऐसा जन्म इस लोक में अत्यन्त ही दुर्लभ है। ॥४२॥

क्योंकि वहाँ वह योगी पौर्वदैहिक संयोग को प्राप्त कर लेता है अर्थात् पूर्व देह में किये हुए कर्मों के अनुसार उत्पन्न होने वाले फल को उस कुल में पैदा होने मात्र से प्राप्त कर लेता है। फिर हे कुरुनन्दन ! अधिक सिद्धि के लिए यत्न करता है ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

बालक्रीड़ा

वह योगभ्रष्ट योगी उसी पूर्वजन्म के अभ्यास से अवश हुआ भी अर्थात् नहीं चाहता हुआ भी बलात् योग सिद्धि को प्राप्त करने के लिए नियोजित किया जाता है। जिसके फलस्वरूप योग के सम्बन्ध में जानने का इच्छुक होकर शब्दब्रह्म का अतिवर्तन कर जाता है अर्थात् परब्रह्म को अधिगत कर लेता है। क्योंकि सिद्धान्त है कि—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति

जानना चाहिए कि दो ब्रह्म हैं एक शब्द ब्रह्म दूसरा पर ब्रह्म। उनमें शब्द ब्रह्म में निष्णात हुआ व्यक्ति पर ब्रह्म को अधिगत करता है। शब्द ब्रह्म का लोकेषणा का अपनी प्रशंसामयी शब्द योजना को अर्थात् प्रशंसा वाचक शब्दों के सुनने को त्याग कर अलौकिक प्रयोग के अभ्यास में लग जाता है ॥४४॥

इस तरह अलौकिक प्रयत्न में लोकोत्तर अभ्यास में लग जाने के कारण किल्विषों से पापों से शुद्ध हुआ वह योगी अनेक जन्म लेने के बाद मिली हुई सिद्धि के फलस्वरूप परा गति को उत्कृष्ट गति की ओर अभियान करता है ॥४५॥

अभ्यास की महिमा को कहते हैं—ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं जो कर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी तप करते हुए भी ज्ञानी हैं ये तपः सहित ज्ञानी हैं दूसरे केवल ज्ञानी है। जिनके विषय में श्रुति एवं स्मृति कहती हैं कि तस्य कार्यं न विद्यते। उनके लिए कर्त्तव्य कुछ नहीं है। ये दोनों ही परिपाक दशा में सफल होते हैं। इससे योगी इन दोनों प्रकार के ज्ञानियों से अधिक है। इसका कारण है कि अपरिपक्व दशा में भी अनिष्ट नहीं होता है। कर्मी माने अश्वमेधादि यज्ञों के करने वाले पुरुष

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

बालक्रीड़ा

साङ्गोपाङ्ग कर्मों का फल पा सकते हैं योगी तो इनसे भी अधिक हैं। क्योंकि कहा है कि (नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते) यहाँ योगानुष्ठान में अभिक्रम के व्यत्यय से भय नहीं है। इस लिए सालम्ब योग के बराबर दूसरा प्रस्थान नहीं है अतः हे अर्जुन ! तुम योगी हो जावो ॥ ४६॥

सम्पूर्ण सालम्ब, निरालम्ब बाह्यालम्ब और अन्तरालम्ब योगियो में जो योगी सर्वभूतो में समभाव से रहने वाले मुझमें अन्तरात्मा को मन को लगाकर अभ्यास करता है और श्रद्धा से मेरी ही सेवा करता है वह युक्ततम योगी है क्योंकि उसको अपरिपक्व दशा में पड़ने का भय नहीं हे वह अभ्यास मात्र से सिद्ध हो चुका है।

इस प्रकार श्री मधुसूदन शास्त्री की कृति श्रीमद्भगवद्गीता के षष्ठ अध्याय की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा समाप्त हुई।

गीता के कर्मषट्क, भक्तिषट्क, एवं ज्ञानषट्क इन तीनों में से यह कर्मषट्क सम्पूर्ण हुआ है। अब इसके बाद भक्तिषट्क का आरम्भ होगा।

षष्ठ अध्याय की समीक्षा

बालक्रीड़ा

अथ अब छठे अध्यायकी समीक्षा करते हैं।

यद्यपि यहां छठे अध्याय की समीक्षा प्रस्तुत है किन्तु इस गीता में आचार्यों ने तीन षट्क माने जाते हैं। एक से ६ तक के अध्यायों का प्रथम षट्क है और ७ से १५ तक के अध्यायों का द्वितीय षट्क है तथा १३ से १८ तक के अध्यायों का तृतीय षट्क हैं। इन में प्रथम षट्क का सिंहावलोकन करते हैं।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।

यहां दुर्योधन को राजा कहा है।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः

यहां युधिष्ठिर को राजा कहा है। इस का आशय है कि अपने २ हिस्से के बटवारे के लिए भाइयों में लड़ाई नही है अपि तु राज्य को प्राप्त करने के लिए दो राजाओं में लड़ाई छिड़ने की तैयारी हो गई है। पहिले में एक राजा अपने सेनापति के इर्द गिर्द सब सेना को रहने का आदेश दे रहा है। दूसरे में दूसरा राजा युद्ध के प्रारम्भ में बिगुल बजता है।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।

इसमें कहा गया है कि युद्ध के प्रारम्भ के समय में हुए घोष से धृतराष्ट्र के पुत्रों का हृदय विदीर्ण हो गया। किन्तु यह कहना असंगतसा लगता है। क्यों कि इस घोष में अपना भी प्रीति दायक घोष सम्मिलित है। जैसा कि स्पष्ट उल्लेख है कि दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए महाप्रतापी वृद्ध प्रपितामह भीष्म जी ने उच्च-स्वर से सिंहनाद करके शंख बजाया। जो युद्ध के आरम्भ का सूचक है तथा यही पहले पहल शंख का घोष हुआ है। उसी के बाद पाण्डव पक्ष के लोगों का शंखघोष हुआ है। इस में एक त्रुटि और भी है कि जहां पाण्डव पक्षीय सभी सेनापतियों के

शंखों के बजाने का पृथक पृथक निर्देश है किन्तु कौरव पक्षीय सेनापतियों में भीष्म को छोडकर किसी के भी शंख के बजाने का पाण्डवों की तरह पृथक-पृथक निर्देश नही किया है अतः उनके हृदयों के विदीर्ण होने का कोई हेतु नही है जब कि तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः। सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्द स्तुमुलोऽभवत्। इस तरह भीष्म और उसके अनुयायियों के शंखादि के बजाने से होने वाला तुमुल शब्द भी सम्मिलित है जो हर्ष का जनक है।

इन्ही भीष्मादि के द्वारा बजाये गये शंखादि के देखा देखी पाण्डव पक्ष के सेनापतियों ने भी शंख बजाये उन से घोष हुआ; यह घोष विरोधी पक्ष वालों का है अतः कष्टदायक है किन्तु सामान्यतः यह लिखना कि उस घोष ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय को विदीर्ण किया यह कैसे। उत्तर—धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय का विदीर्ण होना अमङ्गल है अपशकुन है जो उन के पराजय का सूचक है।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।

यहाँ निमित्तात्कर्मयोगे इस सूत्र से धनुष रूपी कर्म के योग में निमित्त सप्तमी हुई है। और शस्त्रसम्पाते यह विषय सप्तमी है अतः इसका अर्थ है कि शस्त्र सम्पात विषयक प्रवृत्तिनिमित्तक धनुः कर्मकमुद्यमनम्। अर्थात् शस्त्र सम्पात करने के लिए जो प्रवृत्ति है उस के निमित्त से धनुष का उद्यमन कर के पाण्डव अर्जुन ने हृषीकेश को कहा।

इस श्लोक के इस अंश का व्याख्यान जो पहले भी दिया है उस में इतना और समझ लेना चाहिए।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

यहाँ अजः और नित्यः कह कर आत्मा के अजत्व और नित्यत्व ये दो विशेषण कहे हैं। इन्ही को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि यह आत्मा न पैदा होता है और न मरता है। यहाँ प्रश्न होता हैं कि यह आप कैसे समझते हैं कि आत्मा पैदा नहीं होता है। उत्तर लोक में देखा जाता है कि जो प्राणी माता के गर्भ से जन्म लेता है और बाद में देह धारी होता है उसके विषय में कहा जाता

है कि यह प्राणी पैदा हुआ है। किन्तु आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आत्मा जनि लक्षण भवन क्रिया का अनुभव नहीं करता है और देह का भी धारण नही करता है अतः यह अज है। यहां दूसरा प्रश्न होता है कि यह आप कैसे समझते हैं कि आत्मा मरता नही है। उत्तर—लोक में देखते हैं कि जो प्राणी पहले पैदा हुआ, और देहधारी होकर कार्य क्षम हुआ कुछ समय के वाद नही रहता है। तब उसके विषय में कहा जाता है कि वह प्राणी मर गया किन्तु आत्मा के विषय में यह नही कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मा भूत्वा भावे भवन क्रिया का अनुभव करके अस्ति माने अस्तिक्रिया का ही विषय होता है किन्तु नही है ऐसा अनस्ति क्रिया का विषय नही होता है। अतः आत्मा नित्य है।

किन्तु समीक्षा यह है कि भगवान् ने कहा है कि बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुनः। अर्जुन ने भी कहा है कि अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। इति "जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इति। आत्मानं सृजाम्यहम्। संभवामि युगे-युगे। इत्यादि से मालूम होता है कि भगवानपि जायते। भगवान् भी पैदा होते हैं। अगर कहें कि "प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" भगवान् अपनी माया से पैदा होते हैं। अजी साहव। सभी सृष्टि माया से होती है भगवान् भी माया से पैदा होते है इस में कौन आश्चर्य है पैदा तो होते ही हैं। माया अपनी हो या पर की हो पैदा तो हुए हैं उसी से आत्मा का अजत्व सत्यत्व स्वाभाविक है और जातत्व कल्पित है। अजी साहब। जगत् का जातत्व कौन सत्य है वह भी तो कल्पित ही है। अजी साहव एक बात और भी है कि जैसे किसी वस्तु का निषेध शब्द से किया और किसी का अर्थात् किया इस से कोई फरक नही पड़ता है निषेध तो सिद्ध हुआ उसी तरह पैदाइस को भी समझो। अस्तु।

शाश्वत पदार्थ भी नष्ट हो जाता है जैसे-"उत्साद्यन्ते जाति धर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः" इस पद्य में गीताकारने स्वयं शाश्वतपदार्थ का नष्ट हो जाना कहा है। जो हो भगवान् की उक्तियां हैं वे ही जाने क्या तथ्य है। जिसकी बंदरियां वही नचावे।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । इति । इस में कहते हैं कि असत् अविद्यमान वस्तु का सद्भाव सत्ता नही है । और सत् का विद्यमान का अभाव नही है परन्तु ये दोनों ही बाते समन्वय के बाहर है । क्यों कि किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के पहले उस पदार्थ का अभाव ही रहता है उत्पन्न होने पर उसके विषय में कहा जाता है कि अमुक वस्तु है अमुक पदार्थ है । जैसे कुम्हार ने जब तक घड़े को नही बनाया है तब तक घड़ा नहीं है यही वह कहता है । और जब वह उस घड़े को बना लेता है तब कहता हैं कि घड़ा है । अतः वस्तु का भाव नही हैं यह बात तथ्य नहीं है । समन्वित नही है ।

छान्दोग्य उपनिषत् के छठे प्रपाठक में भगवती श्रुति । असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्, तस्मादसतः सज्जायते । भी समर्थन करती है कि पहले एक अद्वितीय असत् ही था । ६।२।१

उसी से सब कुछ पैदा हुआ । इस लिए असत् से सत् पैदा होता है । उत्पत्ति के पूर्व जो घडा असत् था उसी घड़े का उत्पत्ति के बाद भाव माने सद्भाव हो जाता है क्यों कि प्रागभाव निमित्त कारण है और निमित्तकारण से कार्य उत्पन्न होता है । देश १ काल २ पुण्यापुण्यरूप अदृष्ट ३ ईश्वर ४ उसकी इच्छा ५ कृति ६ ज्ञान ७ और प्रागभाव ८ ये आठ निमित्तकारण हैं ।

सत् का अभाव नही होता है यह भी नही जंचता है । क्योंकि सत् ब्रह्म का अतात्विक अन्यथाभाव यानि अभाव रूप जगत् है । एकस्य सतो विवर्त्तः । कार्य जातं न वस्तु सत्, यह वेदान्तियों का मत है । नित्य सत् परमात्मा से अनित्य असत् घटादि कार्यों का उत्पादन होता है यह नैयायिकों एवं वैशेषिकों का मत है । सत् नित्य शब्द ब्रह्म से असत् अनित्य प्रपञ्च उत्पन्न होता है यह वैयाकरणों का मत है । सतः असज्जायते । भगवती श्रुति भी कहती है कि सदेव सौम्यदेमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् । हे सौम्य ! पहले एक अद्वितीय सत् ही रहा बाद में यह सत् के विरुद्ध भाव के विरुद्ध असत् अभाव प्रतीत हो रहा है । इस तरह वेदान्तिक नैयायिक वैशेषिक एवं वैयाकरण के और श्रुति के समर्थन से सिद्ध है कि सत् का अभाव होता है ।

और भी श्रुति है कि "नासदासीत् नो सदासीत्" यहां 'न और असदासीत्' असत् नहीं था इसमें असत् के निषेधार्थक अकार से और नहीं है के नकार से किये गये दो निषेध प्रकृत को दृढ़ करते हैं। जैसे "असन्न" सत् नहीं है ऐसा नहीं है माने

सत् है भाव है अतः यहां नासतो विद्यते भावः का उत्तर माने खण्डन हो गया। "नो सदासीत्" सत् नहीं था इसमें सत् का अभाव कहा है अतः नाभावो विद्यते सतः का उत्तर माने खण्डन हो गया।

गीता जी में आगे १३ वें अ० के १२ वें श्लोक में

"अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् ,तत्, नासदुच्यते" में भी "सत् नोच्यते" सत् को नहीं कहते हैं अर्थात् सत् नहीं है इससे सत् का अभाव कहां है अतः नाभावो विद्यते सतः का उत्तर हो गया "असत् न उच्यते" सत् नहीं है ऐसा नहीं कहते हैं किन्तु सत् ही है ऐसा कहते हैं। इसमें नासतो विद्यते भावः का उत्तर हो गया।

नेति नेति अस्थूलम् अनणु अन्हस्वम् यह श्रुति निषेधविधया ब्रह्मका प्रतिपादन करती है। इस पर एक घटना का स्मरण हो जाता है। वह यह है कि किसी समय नासिक में कुम्भ का मेला था। इस अपातकालिक स्थिति की तरह सभी अधिकारी सजग होकर व्यवस्था करते थे अतः बड़ा सुन्दर प्रबन्ध था। उस मेले में एक वृद्ध एवं एक वृद्धा स्नान के लिए गये हुए थे। दैव संयोग से वृद्धा का वृद्ध से विछोह हो गया। किन्तु सुव्यवस्थित प्रबन्ध होने के कारण अधिकारियों के समक्ष जो सूचना दी गयी थी उसको उन्होंने तत्काल कार्यान्वित किया गया। एक घेरे के भीतर उस समय के उपस्थित सभी यात्रियों को इकट्ठा कर दिया। उसके दरवाजे पर उस बुढ़िया को खड़ी कर दिया। इतना प्रबन्ध कर देने के बाद उस घेरे के भीतर से एक २ आदमी को क्रमशः बाहर निकाला गया और बुढ़िया से कह दिया गया था कि अपने आदमी को पहचान लो। नियुक्त योजना के अन्तर्गत जो भी आदमी बाहर आया सभी को वह बुढ़िया नहीं है नहीं है कहती गई। जब उसका अपना आदमी सामने आया तो बुढ़िया आनन्द में विभोर हो गयी और कुछ नहीं कह सकी मौन हो गई। इस तरह यहाँ निषेधविधया ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।

यहाँ इस पद्य में जो अच्छेद्यत्वादि विशेषण लिखे हैं वे आत्मा में और छाया में समान रूप से समन्वित होते हैं। हमने इसकी विवेचना द्वितीयाध्याय में इस पद्य की व्याख्या में कर दिया है। ठीक है। किन्तु यहाँ इतना और कहना है कि छाया पराश्रित है पर के सम्बन्ध से वेद्य है। प्रकाश के अभाव से वह जानी जाती है। ब्रह्म स्वाश्रित है स्वप्रकाश है परप्रकाशानपेक्ष प्रकाशस्वरूप है। अतः छाया और ब्रह्म में आत्मा में अन्तरं महदन्तरम्।

नासतः में असत् के सत् शब्द की और सतः मे सत् शब्द का अर्थ है अस्तित्व सद्भाव। क्योंकि गीताकार ने स्वयं सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। इसमें ऐसा लिखा है।

यहां गीता में अव्यक्त शब्द के १२ वार एवं व्यक्ति पद के ३ वार प्रयोग भिन्न अर्थों में किये हैं। जिनमें कहाँ क्या अर्थ किया है उसको पाठकों के मनोरञ्जनार्थ दिखाते हैं।

जैसे अव्यक्तोऽयम्। २। २५

अव्यक्तः सर्वकारणाविषयत्वान्न व्यज्यते इत्यव्यक्तोऽयमात्मा। शास्त्र एवं लोक में जो कारण बतलाये गये हैं उन सब कारणों का विषय नहीं होने से जो व्यक्त नहीं होता है वह यह आत्मा अव्यक्त है। शांकरभाष्य।

व्यक्तं स्थूलशरीरं प्रत्यक्षगम्यं तदन्योऽयमात्मा : व्यक्त माने स्थूलशरीर जो प्रत्यक्ष गम्य है उस से भिन्न माने अव्यक्त यह आत्मा है। नीलकण्ठी।

यो हि इन्द्रियगोचरो भवति स प्रत्यक्षत्वाद् व्यक्त इत्युच्यते। अयं तु रूपादिहीनत्वात् न तथा। अतो न प्रत्यक्षं तत्र छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः।

जो इन्द्रियों का गोचर होता है अर्थात् जो इन्द्रियों से जाना जाता है वह प्रत्यक्ष होने के कारण व्यक्त कहलाता है किन्तु यह आत्मा तो रूपादि से रहित है अतः व्यक्त नहीं है माने प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इसमें छेद्यत्वादि के ग्राहक इन्द्रियों का प्रसार नहीं है। मधुसूदनी। यहां शांकर भाष्य का अनुगमन है।

भाष्योत्कर्षदीपिका में शांकरभाष्य के ही अक्षर हैं। श्रीधरी में मधुसूदनी का ही भाव है और कुछ नहीं है। अहंकारममकारादिभिर्व्यज्यत इति व्यक्तं लिङ्ग शरीम्। तद्धर्मतदवस्थासाक्षित्वेन ततो भिन्नत्वात् आत्माऽयमव्यक्तो व्यक्ताद्भिन्नः। ममेदं दुःखं प्राप्तमिति दुःखानुभवितृत्वं येन ज्ञायते स तस्माद् भिन्न एव नात्र संशयः।

मै और मेरा इत्यादि से व्यक्त किया जाता है अतः व्यक्त माने लिङ्ग शरीर है। उस लिङ्ग शरीर के धर्म और अवस्था के साक्षी होने से यह आत्मा उस व्यक्त से भिन्न अव्यक्त है। क्योंकि जिसके द्वारा मुझे यह दुःख हो रहा है मैं इस दुःख का अनुभव करता हूं ऐसा दुःखानुभव कर्तृत्व का ज्ञान हो जाय अर्थात् जो हमें दुःखों के अनुभव करने की प्रतीति करा दे वह प्रत्यायक आत्मा उन अनुभूयमान व्यक्त पदार्थों से भिन्न है इसमें कोई संशय नहीं है। शंकरानन्दी।

छेदनादियोग्यानि वस्तूनि यैः प्रमाणैर्व्यज्यन्ते तैरयमात्मा न व्यज्यते इत्यव्यक्तः छेदनादि क्रियायों के योग्य वस्तुएं जिन प्रमाणों से व्यक्त होती है उन प्रमाणों से यह आत्मा व्यक्त नहीं होता है अतः यह अव्यक्त है। रामानुज भाष्य।

अमृततरंगिणी के श्रीधरी के अक्षर समान हैं। यहां कितनी बड़ी गड़बड़ी है उसे भावुक लोग समझें। नीलकण्ठजी कहते हैं कि व्यक्त का अर्थ है स्थूल शरीर और शंकरानन्द जी कहते हैं कि व्यक्त का अर्थ लिंग शरीर माने सूक्ष्म शरीर। शंकराचार्य जी आदि कहते हैं कि व्यक्त का अर्थ है चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने योग्य और अव्यक्त का अर्थ है चक्षुरादि से प्रत्यक्ष होने के अयोग्य। किन्तु प्रह्लाद एवं उसकी माता तथा ध्रुव नारद ऋषि और भृगु ने एवं कौशल्या आदि बहुतों ने इन चर्मचक्षुओं से ईश्वर का प्रत्यक्ष किया है। इनके बाद योगियों ने तो "यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्" इसके अनुसार समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार प्रत्यक्ष किया है। वे करते हैं और करेंगे भी। विस्तीर्णा पृथिवी जनश्च विविधः किं किं न सम्भाव्यते।

अव्यक्तादीनि, अव्यक्तनिधनानि। २।२८।

यहां शांकरभाष्य मधुसूदनी भाष्योत्कर्षदीपिका सदानन्दी में अव्यक्त का अर्थ उत्पत्ति के पूर्व एवं मरने के बाद अदर्शन अनुपलब्धि किया है। श्रीधरी, शंकरानन्दी, परमार्थप्रपा, राघवेन्द्र विवृति में अव्यक्त का अर्थ प्रधान प्रकृति किया है। अमृततरंगिणी में अव्यक्त का अर्थ अक्षर परमात्मा किया है। नीलकण्ठीं मे अज्ञात अर्थ अव्यक्त का किया है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् । ७ । २४

शांकर भाष्य में अव्यक्त माने अप्रकाश और व्यक्ति माने प्रकाश। नीलकण्ठी में अव्यक्त माने सर्वोपाधिशून्यत्वेन अस्पष्ट। वासुदेव शरीर से व्यक्ति को प्राप्त माने अस्मदादिवच्छरीराभिमानी। मधुसूदनी में अव्यक्त देह ग्रहण के पूर्व में कार्याक्षम और व्यक्तिमापन्न माने वसुदेव के घर में भौतिक देह के ग्रहण करने पर कार्यक्षम। भाष्योत्कर्षदीपिका में भाष्याक्षर ही है।

श्रीधरी में अव्यक्त माने प्रपञ्चातीत; व्यक्तिमापन्न माने मनुष्यकूर्मादिभाव को प्राप्त। अभिनवगुप्ती में अव्यक्त माने पारमार्थिक अभिव्यक्तिरहित। व्यक्तिमापन्न माने निजकामनासमुचिताकारविशिष्ट ज्ञानस्वभाव को प्राप्त। शंकरानन्दी में अव्यक्त माने किसी भी प्रमाण से व्यक्त नहीं होने वाला अथवा देहेन्द्रियादिविकारों के वन्धन से रहित। व्यक्ति माने देह।

तत्त्वदीपिका में अव्यक्त ब्रह्मविष्ण्वादि के द्वारा भी अवोध्य ईश्वरों का भी ईश्वर। भक्तवत्सलता से एवं अपनी शक्ति से अपने स्वरूप को विना छोड़े वसुदेव के घर में अवतीर्ण माने व्यक्तिमापन्न है।

सदानन्दी में भाष्य के ही अक्षर हैं। परमार्थप्रपा और श्रीधरी में एक ही अक्षर हैं। राघवेन्द्र और मधुसूदन के अक्षर एक हैं।

आनन्द भाष्य में भी ये ही अक्षर है। तत्त्वदीपिका और रामानुज भाष्य के एक ही अक्षर हैं। अमृततरंगिणी के अभिनवगुप्ती के भाव में कोई अन्तर नहीं है एक ही है।

अव्यक्ताद्: अव्यक्तसंज्ञके ८ । १८

शांकरभाष्य में अव्यक्त माने ब्रह्मा की स्वापावस्था है। ये ही अक्षर नीलकण्ठी मधुसूदनी शंकरानन्दी भाष्योत्कर्षदीपिका एवं सदानन्दी में भी हैं। अव्यक्त माने परमार्थप्रपा और श्रीधरी में कार्यका अव्यक्त रूप कारण है।

राघवेन्द्र की विवृति में अव्यक्त माने भगवान्। तत्त्वदीपिका में रामानुजभाष्य में अव्यक्त माने प्रकृति परिणाम रूप ब्रह्म का शरीर। प्रजापति का देह।

अमृततरंगीणी में अव्यक्त माने भगवच्चरण रूप अक्षर।

अव्यक्तोऽव्यक्तात्। ८। २०

शांकर भाष्य में अव्यक्त माने इन्द्रियागोचर। अव्यक्तात् स्थूल सूक्ष्म चराचर प्रपञ्च निमित्त कारण अविद्या।

मधुसूदनी में भी अव्यक्त इन्द्रियागोचर है किन्तु अव्यक्तात् माने हिरण्यगर्भ।

नीलकण्ठी में भाष्याक्षर हैं। भाष्योत्कर्षदीपिका में अव्यक्त माने इन्द्रियागोचर है। किन्तु अव्यक्तात् का अर्थ भाष्य के अनुसार अविद्या और मधुसूदनी के अनुसार हिरण्यगर्भ भी लिखा है।

श्रीधरी में शंकरानन्दी में सदानन्दी में परमार्थप्रपा में भाष्य के ही अक्षर हैं। राघवेन्द्री में अव्यक्त भगवान् हैं। अव्यक्तात् का भूतग्रामात् लिखा है।

रामानुज भाष्य में अव्यक्तात् का अर्थ अचेतन प्रकृति है और अव्यक्त माने स्वसंवेद्य स्वासाधारणाकार है। अमृततरंगिणी में अव्यक्त माने कारण का भी कारण।

अव्यक्तोऽक्षरः। ८। २१

शांकर भाष्य में अव्यक्त अक्षर है। आनन्द तीर्थ भाष्य में अव्यक्त भगवान् परम विष्णु।

रामानुज भाष्य में और तत्वदीपिका में अव्यक्त माने जाते हैं परमगति-निर्दिष्ट अक्षर अर्थात् प्रकृति संसर्ग वियुक्त स्वस्वरूप से अवस्थित आत्मा।

अमृत तरंगिणी में अव्यक्त माने अप्रकट; जो जाना नहीं जा सकता है वह भाव अक्षर है। यही भाव नीलकण्ठी में भी है।

रामानुज सदानन्द श्रीधर सदानन्द एवं परमार्थप्रपाकार सबका एक ही भाव है।

अव्यक्तमूर्तिना ९ । ४

शांकर भाष्य में अव्यक्तमूर्तिना (करण) माने इन्द्रियों के अगोचर।

रामानुज भाष्य में अव्यक्त मूर्ति का अर्थ है जिसका स्वरूप अप्रकाशित है। अमृत तरंगिणी वल्लभ भाष्य में जिसका स्वरूप लौकिक इन्द्रियों से गोचर नहीं हो सकता है किन्तु उसकी अपनी क्रिया एवं इच्छा से जिसका स्वरूप दिखाई पड़ सकता है।

नीलकण्ठी में मायाशबल कारण ब्रह्म बुद्धिग्राह्य होने से करणों से देखा जा सकता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म तो बुद्धि से परे हैं अतः अव्यक्त मूर्ति है करणागोचर है। मधुसूदनी में करणागोचरप्रकाश अदृश्य चैतन्य सदानन्द स्वरूप है।

भाष्योत्कर्ष दीपिका में भाष्य का आशय है। श्रीधरी में अव्यक्त माने अतीन्द्रिय है। शंकरानन्दी में अव्यक्त है माने अप्रमेय है श्रुति भी सम्पूर्ण दृश्यों का निषेध करके दृश्य पदार्थों से विलक्षण को बतलाती है। साक्षात् नहीं बतलाती है घुमा फिरा कर बतलाती है।

सदानन्दी में परमार्थ प्रपा में राघवेन्द्री में भाष्यके ही अक्षर है।

अव्यक्तम् १२ । १

समीटीका कारों ने अव्यक्त के माने इन्द्रियागोचर लिखा है।

अव्यक्तं पर्युपासते १२ । ३

न केनाऽपि प्रमाणेन व्यज्यते इत्यव्यक्तम्। लौकिक किसी भी प्रमाण से जो व्यक्त नहीं होता है वह अव्यक्त है। शांकर भाष्य है। अव्यक्तञ्च वाचाम गोचरत्वाद् बुद्धेरप्यविषयम्। वाणी से जिसको नही कह सकते हैं उसको बुद्धि से भी नहीं जान सकते हैं।

ऐसे मधुसूदन एवं नीलकण्ठ के अक्षर समान है। भाष्योत्कर्ष दीपिका तो भाष्य ही है। तत्त्वदीपिका शांकरी सदानन्दी परमार्थप्रपा एवं श्रीधरी में कोई नई बात नहीं है पहले जो भाष्य में कह चुके हैं वही है।

राघवेन्द्री माने राघवेन्द्रकृत अर्थसंग्रह में "जगदुपादान प्रकृत्यभिमानित्वात् अव्यक्तनामकं श्रीतत्त्वम्" प्रकृति को जगत की उपादानकारण मानने के वदौलत यह अव्यक्त नाम से श्रीतत्व विवक्षित है।

आनन्द तीर्थ मध्वभाष्य एवं उसकी टीका जयतीर्थ कृत प्रमेयदीपिका में भी (तमो हि अव्यक्तम् एषा हि प्रकृतिः) तम ही अव्यक्त है यही प्रकृति है। रामानुज भाष्य एवं वल्लभ भाष्य में वही अप्रकट अव्यक्त पुराने अक्षर है।

अव्यक्तासक्तचेतसाम् १२।५ अव्यक्ता हि गतिः १२।५

अव्यक्त अक्षर है। अव्यक्ता अक्षरात्मिका गति है शांकर भाष्य में आनन्दगिरि में अव्यक्तमत्यन्तसूक्ष्मं निर्विशेषमक्षरम्। अत्यन्त सूक्ष्म निर्विशेष अक्षर अव्यक्त हैं। अव्यक्ता गति अक्षर क्रिया है। मधुसूदनी में अव्यक्तासक्तचेतसाम् निर्गुण ब्रह्म चिन्तन पराणाम्। अव्यक्त माने निर्गुण ब्रह्म। अव्यक्ता हि गतिः अक्षरात्मकं गन्तव्य फलभूतं ब्रह्म। अव्यक्त गति माने अक्षरात्मक गन्तव्यम् फलभूत ब्रह्म है। भाष्योत्कर्ष दीपिका में अव्यक्त माने करणों इन्द्रियों के अगोचर अविषय। अव्यक्ता माने अक्षरात्मिका गति।

नीलकण्ठी में अव्यक्तासक्तचेतसाम् सूक्ष्मायां चिद्रूपायामासक्तं चेतः। अव्यक्त पद से सूक्ष्म चिद्रूपा माधव मूर्ति यहाँ विवक्षित है। नीलकण्ठ जी कहते हैं कि वस्तुतः चिद्रूप माधव मूर्ति में जडता अध्यस्त हैं। उसी मूर्ति को अभिनिवेश के साथ दीर्घ काल तक चर्म चक्षुओं से ही देखते हैं तव उस मूर्ति की जडता छिप जाती है या हट जाती है और चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है। इस तरह अचेतना मूर्ति का भी स्वरूप विश्वरूपात्मक है। अत एव उस अचेतना मूर्ति को आदर से देखने वाला भगवान् के विश्वरूप का साक्षात्कार करता है। अव्यक्ता गति निरालम्बना गति है।

श्रीधरी में अव्यक्त के माने निर्विशेष अक्षर ब्रह्म है। अव्यक्त विषया गति निष्ठा है।

तत्वदीपिका में अव्यक्त माने अक्षर। अव्यक्ता माने अव्यक्त विषया मनोनिष्ठा गति है।

शांकरानन्दी में इन्द्रियों के अगोचर अदृश्यादि गुण वाले अतर्क्य अचिन्त्य एवं अप्रमेय परब्रह्म अव्यक्त है । अव्यक्ता गति माने अव्यक्तात्मिका गति है ।

श्रीधरी में अव्यक्त माने निर्विशेष अक्षर । सदानन्दी में निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त का अर्थ है ।

भाष्योत्कर्ष दीपिका में अव्यक्त माने अक्षर । अव्यक्ता गति । अक्षरात्मिका गति । परमार्थप्रपा में ये ही अक्षर हैं ।

राघवेन्द्र की अर्थ संग्रह टीका में अव्यक्त माने विष्णु रहित श्रीतत्व । अव्यक्ता गति मानें अव्यक्त की उपासना के द्वारा भगवान् की प्राप्तिका मार्ग । गति शब्द गम्यतेऽनेन इस करण व्युत्पत्ति से मार्ग परक है ।

अव्यक्तमेव च १३ । ५

शांकर भाष्य में अव्यक्त के माने है अव्याकृत ईश्वर शक्ति । मम माया दुरत्यया से जिसका निरूपण किया है ।

आनन्द गिरि में कहते हैं कि यदि अव्यक्त का अर्थ ईश्वर शक्ति करते हैं तो शंका हो सकती है कि ईश्वर शक्ति का अर्थ चैतन्य है क्या । इसलिए उदाहरण देते हैं कि मेरी माया जिसका अत्यय विनाश करना बड़ा कठिन है ।

रामानुज भाष्य में अमृत तरङ्गिणी में अव्यक्त माने प्रकृति मूल प्रकृति है ।

नीलकण्ठी में जो शरीराख्य क्षेत्र कहा है वह अव्यक्त है । क्योंकि "शरीरं रथमेव च" में अव्यक्त पद से उसी का ग्रहण किया है ।

मधुसूदनी में अव्यक्त माने सत्वरजस्तमोगुणात्मक जो सबका कारण ही है कार्य किसी का भी नहीं है ऐसा प्रधान है । यह सांख्यों का मत है । उपनिषत् कारों के मत में अव्यक्त माने अव्याकृत अनिर्वचनीय माया नामक परमेश्वर की शक्ति है । ये भाष्य के अक्षर हैं । इसी को साधीयान् पक्ष कहा है । यही भाष्योत्कर्ष दीपिका में भी लिखा है ।

श्रीधरी में अव्यक्त मानें मूल प्रकृति है । शंकरानन्दी तत्वदीपिका परमार्थप्रपा भाष्योत्कर्ष दीपिका राघवेन्द्र की अर्थसंग्रह में उसी भाव वाले अक्षर हैं ।

व्यक्तिम् १०।१४

शांकर भाष्य में व्यक्ति प्रभवम्। आनन्दगिरि में प्रभवो नाम प्रभावो निरुपाधिक स्वभावः। प्रभव माने प्रभाव अर्थात् सभी उपाधियों से रहित स्वभाव।

नीलकण्ठी में व्यक्ति का अर्थ प्रभव लिखा है। हनुमत्कृत पैशाच भाष्य में व्यक्ति माने उत्पत्ति है।

मधुसूदनी में व्यक्ति माने प्रभाव लिखा है। भाष्योत्कर्ष दीपिका में व्यक्ति का अर्थ प्रभाव कहा है।

रामानुज भाष्य में व्यक्ति माने व्यञ्जन प्रकार। अमृत तरंगिणी वल्लभ भाष्य में व्यक्ति माने प्राकट्य अथवा स्वरूप है।

तत्वदीपिका में व्यक्ति माने प्रकटनप्रकार।

शंकरानन्दी में व्यक्ति व्यज्यते सर्वमनया इति व्यञ्जयतीति वा व्यक्ति स्तां स्वरूपम् ऐश्वरम् अचिन्त्यम् अनन्त वैभवम् अप्रमेयप्रभावम् अनादि अनन्तम्। जिससे सब कुछ व्यक्त होता है या जो व्यक्त करती है वह ऐश्वर्य अचिन्त्य अनन्त वैभव अप्रमेय प्रभाव अनादि अनन्त स्वरूप व्यक्ति पद का अर्थ लिखा है। सदानन्दी में व्यक्ति माने सर्वैश्वर्यादि सम्पन्न प्रभाव।

भाष्योत्कर्ष दीपिका में व्यक्ति माने प्रभाव। परमार्थ प्रपा में व्यक्ति माने स्वरूप।

राघवेन्द्र की अर्थसंग्रह टीका में व्यक्ति माने सामर्थ्यातिशय।

नित्य जातं नित्यम् २।२६

यहाँ नित्य शब्द का आभीक्ष्ण्य माने पुनः पुनः बार-बार अर्थ है। नित्यः सर्वगतः इसमें नित्य का अर्थ है एकरस। यद्यपि परमात्मा अणु से अणु है महान् से भी महान् है ह्रस्व भी है दीर्घ भी है अह्रस्व है अदीर्घ है तथापि जब जिस रूप में है तब उस रूप में एक रस है।

व्यवसायात्मिका २।४१

यहाँ इस पद्य में प्रक्रम भङ्ग दोष है अतः पूर्वार्ध के अनुरोध पर बुद्धयोऽव्यवसायिकाः। और उत्तरार्धके अनुरोध से व्यवसायिनां तु या बुद्धिः सैकान्ता कुरुनन्दन ! एक शब्द का एकत्व संख्या अर्थ है। अतः सैका एकत्वसहिता। अन्त शब्द का निर्णय अर्थ हैं अतः सान्ता सनिर्णया अर्थ है। एक और अन्त शब्द में द्वन्द्व समास है और द्वद्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते के अनुसार सबका एक और अन्य दोनों पदों से सम्बन्ध है अतः उक्त अर्थ है।

समाधौ २।४४

यहाँ प्रायः सभी टीकाकारों ने शांकर भाष्य का अनुसरण करके समाधि शब्द का अन्तः करण अर्थ लिखा है। किन्तु विचारणीय है कि अन्तः करण के मन बुद्धि चित्त अहंकार भेद से चार प्रकार कहे हैं। उसमें संशयात्मक मन है। निश्चयात्मक बुद्धि है। संग्रहात्मक चित्त है। गर्वात्मक अहंकार है।

इस तरह निश्चयात्मक बुद्धि रूप अन्तः करण में समाधि में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है यह क्या संगति हुई। यहाँ आनन्द गिरि जी का अर्थ ठीक है अतः समाधि शब्द का लक्षणया समाध्यनुष्ठानकाल अर्थ है। और व्यवसायात्मिका बुद्धि का लक्षणया शुद्धचिन्मात्रकारा अर्थ है। यह सांख्यसिद्धान्तानुसार बुद्धि शब्द का अर्थ है। वेदान्तसिद्धान्तानुसार बुद्धि शब्द का "तदैक्षत" इस श्रुति के अनुरोध से ईक्षण ही बुद्धि है। सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि करने के लिए देखना 'बुद्धि' समाधि में अपेक्षित नहीं है। क्यों कि समाधि में चिन्मात्राकारा बुद्धि होती है जैसे—

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्याविस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते। इति।

समाधावचला बुद्धिः। २। ५३

यहां समाधि का अर्थ टीकाकारों ने परमात्मा किया है परमात्मा की प्राप्ति के हेतु समाधि को परमात्मा कहना लक्षणा के द्वारा हेतु और हेतुमान् में अभेद मानकर हुआ है।

सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः २। ६३

विषयों का ध्यान करने से उन में संङ्ग हो जाता है संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिभ्रंश होता है स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से खतम हो जाता है" इस प्रकार उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व पूर्व को कारण बतलाया है अतः कारणमाला अलंकार यहां है ।

यहां विचार विमर्श करते हैं कि स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है ऐसा कहते हैं । किन्तु यहां पद्य के पूर्वार्ध में स्मृति-विभ्रम कहा है स्मृतिभ्रंश नहीं कहा है । स्मृतिविभ्रम का अर्थ है स्मृतिभ्रान्ति । भ्रान्ति से बुद्धि का नाश होना सम्भव नहीं है क्योंकि चाणक्य नें शुक्रनीति में लिखा है कि "भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्" भ्रान्ति पुरुष का धर्म है । धर्म धर्मी का धारक होता है नाशक नही होता है । क्यों कि भ्रान्ति माने भूलना या भूल जाना । जो पुरुष का स्वभाव अपना भाव धर्म है । अतः उस से बुद्धि का नाश नहीं हो सकता है । अतः संमोहात् स्मृतिभ्रंशनम् ऐसा पाठ यहां होना चाहिए । तभी विषय की संगति हो सकती है अन्यथा विषया शुद्धि दोष हो जायगा । ऐसा नहीं कहना कि ऐसा पाठ करने पर पंचम अक्षर स्मृति का "ति" संयोगाद्यं दीर्घम् के आधार पर भ्र में भ और रेफ के संयोग का आद्य पहला होने से गुरु माना जायगा अतः छन्दो भंग दोष हो जायगा । क्यों कि यहां प्रकृत में जो क्रोधाद्भवति संमोहः यह पद्य है वह आठ अक्षरों वाली जाति का है । इस जाति के २५६ भेद होते हैं । उन में जैसे इन्द्रवज्रा इन्द्रवंशा उपेन्द्रवज्रा आदि अपनी अपनी जाति के अनुसार एक कोई भेद है वैसे ही श्लोक भी अष्टाक्षरजाति का एक भेद है । उससे भिन्न छन्द में श्लोक का लक्षण नहीं मिलेगा । जो कि उचित है अतः छन्दोभंग दोष यहां पाठान्तर में नहीं होगा ।

अन्नाद्भवन्ति ३ । १४

पञ्चमहा भूत अन्न से पैदा होते हैं, अन्न पर्जन्य से होता है । पर्जन्य यज्ञ से, यज्ञ कर्म से होता है । कर्म वेद से पैदा होता है और वेद अक्षर ब्रह्म से पैदा होता है [इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है] यहां कारणमाला अलंकार है । यथोत्तरं चेत्पूर्वपूर्वस्य हेतुता । कारणमाला स्यात् । यह इसका लक्षण है ।

चातुर्वर्ण्यं ४।१३

इसकी समीक्षा कर चुके हैं फिर भी कुछ बाकी रह गई थी उसे करते हैं। बात यह है कि यह तो स्पष्ट अतिस्पष्ट है कि गीता में चारों वर्णों की सृष्टि करने का कोई भी प्रकरण नहीं है। टीकाकारों का यहाँ चारों वर्णो की सृष्टि भगवान् ने की है लिखना विलकुल असंगत है। उसके लिए पुनः प्रमाण देतेहैं।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः
मुखबाहूरूपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्। मनुः १।८७
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। ३। ५।

यहां इस सिद्धान्त को स्थिर करते हैं कि कर्म अवश्य करना है उसका त्याग ह कर सकते हैं। कोई यह कहे कि कर्मों के नहीं करने से पुरुष निष्कर्मा हो जायगा या कर्मों के त्याग कर देने से पुरुष को नैष्कर्म्य सिद्धि मिल जायगी यह बात सर्वथा नहीं है क्योंकि पुरुष की तो बात ही क्या है कोई भी प्राणी कभी भी क्षणभर के लिए भी विना कर्म किये नहीं रह सकता है। उसका कारण है कि ये प्रकृति के गुण सब प्राणियों को विवश कर के यानी जबरन् सब प्राणियों से कर्म करवाते हैं। इसीलिए ३ । २९ में कहेंगे कि प्रकृति के गुणों के द्वारा संमूढ किये गये प्राणी गुणनिरूपित कर्मो में सज्ज होते हैं। किन्तु गुणों से क्रियमाण निरूप्यमाण कर्मों के विभागों के तत्त्ववित् तो यानी किन किन गुणों से कौन कौन से कर्म निरूपित किये जाते हैं इस तरह गुणों के विभाग से कर्मों के जान कार तो गुण गुणियों में रहते है ऐसा समझ कर उनमें सज्ज नहीं होते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं १४।१९ भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् १३।२१

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ३।२७ में स्पष्ट लिखा है कि प्रकृति के गुणों से कर्म क्रियमाण है। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् १३।१९

इन के बाद एवं पहिले भी (कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम् ४।१२ के श्लोक कर्मो की सिद्धि चाहने वाले) इस में। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः, ३।२० जनकादिने भी कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की है। इसमें। और सिद्धिर्भवति कर्मजा ४।१२कर्मो से सिद्धि होती है। वर्त्त एव च कर्मणि। भगवान् स्वयं कहते हैं कि मुझे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं

है तब भी मैं लोक संग्रह के लिए कर्मों में प्रवृत्ति करता ही हूं इसी प्रसंग में भगवान् फिर कहते हैं कि मैंने विभाग कर के चारों वर्णों के हितकारी गुणों से निरूपित कर्मों की रचना की है यानी किस वर्ण के कौन कर्म है और उन में गुणों का विभाग गुणों का हिस्सा कितना है यह सब बतलाया है। फिर अठ्ठारहवें अध्याय में तो साफ २ कहेंगे ही। हम भी इस को समीक्षा में लिख चुके हैं।

एकं सांख्यञ्च योगञ्च ५। ५

इस विषय पर हम लिखचुके हैं फिर भी कुछ बाकी अंश को लिखते हैं। कि

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय। २। ४० इस में बुद्धियोग ज्ञानयोग माने सांख्ययोग से कर्मयोग दूरेण माने अत्यन्त ही अवर है अधम है। ऐसी अवस्था में भला सांख्य और योग एक कैसे हो सकते हैं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे। १३। २८

इसमें आत्मा का दर्शन साक्षात्कार करने के लिए उपाय बतलाये है। इन उपायों को करने वालों का निर्देश किया है कि वे चार (उत्तम मध्यम अधम एवं अधमतर) प्रकार के हैं उनमें उत्तम वे हैं जो ध्यानसंस्कृत आत्मा से अन्तः करण से आत्मा में बुद्धि में आत्मा को परमात्मा को देखते हैं। मध्यम वे है जो सांख्ययोग से देखते है ये अन्य हैं। अधम वे हैं जो कर्मयोग से देखते हैं ये अपर हैं। अधमतर वे हैं जो स्वयं तो अज्ञानी हैं परन्तु दूसरों से सुनकर देखते हैं। इस तरह जब सांख्ययोग वाले मध्यम कोटि में आते हैं और कर्मयोग वाले अधम कोटि में आते हैं। तब भला सांख्ययोग और कर्मयोग एक कैसे हो सकते हैं अन्य विषयों को हम पहले समीक्षा में कह चुके हैं।

प्राणापानो समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। ५ २७। परस्पर विरुद्ध दिशागामी प्राण और अपान वायु को समान करके नासिका के अभ्यन्तर चारी करे। यहां प्रश्न होता है कि प्राणवायु की गति ऊर्ध्व मुख एवं नासिका में होती है और अपान की गति अधः गुदा में होती है अतः वे समान कैसे हो सकते हैं और जब समान नहीं होते हैं तब नासिका में उनकी गति कैसे होगी।

ऐसा आक्षेप पहले इसकी व्याख्या एवं समीक्षा में लिखा गया है उस का समाधान करते हैं कि कुम्भक प्राणायाम के द्वारा इन दोनों की ऊर्ध्व एवं अधो गति का विच्छेद करके समान रूप से नासा के अभ्यन्तर चलने वाली करना चाहिए। इसमें प्रमाण है योगसेवा संहिता का वाक्य जैसे—

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ! महावेवस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना। स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।

हे त्रिभुवनश्वरि ! वायु के द्वारा कुक्षिका पूरण करके प्राण एवं अपान की ऊर्ध्व एवं अधो गतियों को समान करके एक करके योगी महावेव में स्थित हो जाय। ऐसा करके फीचों का संताडन करे। इसी को महाबुद्धिमान् लोग वेघ कहते हैं।

यहां प्रथम १ अध्याय से पञ्चम अध्याय तक के विपयों का सिंहावलोकन किया है इसमें वे सभी विपय है जो प्रत्येक अध्याय की समीक्षा में नहीं आ सके थे। जिनको नये सिरे से कहा है। अस्तु। अब षष्ठ अध्याय की समीक्षा करते हैं। इस अध्याय की अपनी विशेषता यह है कि इसमें पञ्चम अध्याय के श्लोकों में यानी स्पर्शान् कृत्वा वहिर्वाह्यान् इन २७। २८ एवं २६ तीन श्लोंकों में योग के विषय में जो संकेत किया था। उसी के सिलसिले में जो कहना शुरू किया कि उसे पूरे छठे अभ्याय में कहा।

इस योग के प्रसङ्ग में आत्मा मन चित्त शरीर एवं इन्द्रियों का सम्पर्क या सम्वन्ध वहुत अधिक है। वस्तुतः कहना चाहिए की योग के आधार ये पांच ही है। इन्ही पांचों पर ही योग का दार ओ मदार है। यद्यपि कोषकारों ने चित्त एवं मन को एक चित्त शब्द से संकेत किया है किन्तु अन्तः करण के चार भेदों में से संशयात्मक मन अलग है और स्मृत्यात्मक चित्त अलग है।

कोषों में धरणी कोष में आत्मा शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं किन्तु यहां इस ग्रन्थ में उनसे भी भिन्न अर्थ मिलें हैं अतः उनका भी संकेत हमें करना आवश्यक है।

आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च । ये आठ अर्थ यहां बतलाये हैं । यहां चित्त शब्द से मन को भी लेलिया है, जैसा कि हमने ऊपर कहा है । आत्मा शब्द का गीता के २ अध्याय से १८ वे अध्याय तक १७ अध्यायों में बार बार प्रयोग किया है अतः इतना ही निर्देश करके छठे अध्याय की समीक्षा को समाप्त करते हैं । इस आत्मा शब्द के विषय में आगे के ७ म एवं ८ म अध्यायों की समीक्षा में पूरे रूपसे लिखेंगे ओम् शम् । षष्ठ अध्याय की समीक्षा समाप्त हुई ।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

बालक्रीड़ा

षष्ठ अध्याय में सबीज योग का प्रशंसा पूर्वक निरूपण करके अब बीज जो ध्येय है उसका वर्णन करते हैं । श्री भगवान् बोले हे पार्थ ! मेरे में मन लगाकर और मेरा आश्रय करके योग करने वाला योगी जिस प्रकार संशय रहित हुआ पूर्णरूप से मुझको जान जाय उस प्रकार को तुम सुनो ॥१॥

आत्मा एवं अनात्मा के विवेक से जनित स्वानुभवरूप ज्ञान के सहित इस शास्त्रीय ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से तुमको कहूँगा जिसके जान लेने के बाद फिर जानने के लिए कुछ बाकी नहीं रह जाता है । ॥२॥

...करने वाला सर्वश्रेष्ठ आश्रम गृहस्थाश्रम है। आपने कहा कि राम, कृष्ण, वेदव्यास, शंकरचार्य आदि महान पुरुष और वेदशास्त्रोंके व्याख्यात गृहस्थाश्रमकी ही देन है।

आग लगनेसे रेल इंजन क्षतिग्रस्त

उत्तर रेलवेके सुरियावा स्टेशनके निकट गत दिनों १४१ अप पटना-प्रतापगढ़ पैसेंजर ट्रेनके इंजनमें आग लग जानेका समाचार मिला है।

आग लगनेसे ट्रेनका इंजन बुरी तरहसे क्षतिग्रस्त हो गया। बताया जाता है कि इंजनके धुरे में लगे जूटमें सबसे पहले आग लगी और देखते-देखते इंजनमें से लपट निकलने लगी। तभी ट्रेनके चालकने ट्रेन रोककर इंजनको अलगकर दिया। बादमें दूसरा इंजन लगाकर ट्रेनको आगेके लिए रवाना किया गया।

स्त्री-पुरुष

प्रेमाचार्य ने कहा कि सनातन धर्मके र २४ अवतार हुए हैं जिनमें भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम ... पुरुषोत्तम कहा गया है। भगवान राम ... करके गृहस्थाश्रमको आदर्श बनाया। विवाहका उद्देश्य शराब, मांस, ...र आदि अवगुणोंसे बचना है। आपने ... जिन घरोंमें भिक्षा नही दी जाती, वेद ...की चर्चा नहीं होती, देव कार्य और पितृ ...ही होते वह श्मशानके समान होता है। ...चार्य ने लोगोंसे कहा कि भावी पीढ़ीका ...बनानेका प्रयास किया जाना चाहिये।

इस अवसरपर श्री श्रीनिवास पाठकने कहा कि भगवानकी लीलाके दर्शनसे प्रसन्नता तो होती ही है साथ ही यह प्रशिक्षण भी मिलता है कि किसी कामको कैसे किया जाय। आपने कहा कि श्री रामचरित मानसको जिस दृष्टिकोण से भी देखा जाय हमें उसमें परंपराओंका दर्शन होता है। आपने सीता स्वयंबरके प्रकरणमें विदेह राजा जनकको परम बैरागी बताते हुए कहा कि उनमें रजो गण, सतोगुण और तमोगण न होनेहुए भी इन गुणोंका दर्शन होता है।

प्रारम्भमें श्री कृष्णाचन्द्र व्यासने श्री

...वादा टेलीफोन एक्सचेंजका ...यलटोन दो माहसे खराब

...क्षेत्रके बरही नेवादा टेलीफोन ...का डायलटोन विगत दो महिनेसे ...पड़ा है। जिससे वहांके ...ओंको भारी असुविधा हो रही है। ...में टेलीफोन उपभोक्ताओंने बताया कि टेलीफोन अधिकारियोंसे जब पूछ-ताछ की जाती है तो आज-कल में बनानेका आश्वासन दिया जाता है। आश्वासनके दो महिने बीत जानेके बावजूद फोन ठीक हो पाता। कहा जाता है कि टेलीफोन विभागके पास टेलीफोन ठीक करनेके लिए समय नहीं है किन्तु इनका बिल हर महीने अवश्य पहुंच जाता है और बिल जमा न होनेपर कनेक्शनकाट दिया जाता है।

उपभोक्ताओंने आरोप लगाया है कि टेलीफोन भवन अभीतक किरायेके मकानमें है लेकिन विभाग किरायेके मकानमें है लेकिन विभाग किराया अदा नहीं कर रहा है। स्थानीय उपभोक्ताओंने एक पत्र विभागीय अधिकारियोंको देकर चेतावनी दी है कि यदि एक सप्ताहके अन्दर टेलीफोनकी दशा ठीक नहीं की गयी तो टेलीफोन बिल देना बन्दकर दिया जायेगा साथ ही इससे कालीन उद्योगमें हुयी क्षति भी वसूल किया जायेगा। प्रमुख कालीन निर्यात एवं इंका नेता श्री सगीर-अली अंसारी ने टेलीफोन विभागमें व्याप्त दुर्व्यवस्था दूर करनेकी विभागीय अधिकारियोंसे मांग की है।

...सड़कका निर्माण ...नेसे परेशानी

... बाजारमें पक्की सड़कका निर्माण ...कारण नागरिकोंको काफी परेशानीका ...पड़ रहा है।

...सड़क तथा जल निकासीकी उचित ...नेसे बाजारकी नालियां बजबजा रही ...रण दुर्गन्धिमय हो गया है। सड़कका ...नेसे बाजारमें स्थित बैंक, शिक्षा ...र अस्पतालके कार्योंमें काफी ...हो रहा है।

...ब्लाक कांग्रेस (इ.) सहकारी ...श्री अयूब अंसारीने पक्की सड़क ...काल निर्माण करानेकी प्रशासनसे

... कर ८०० रुपयेकीलू...

वाराणसी-जौनपुर प्रखण्डपर चलने वाली वाराणसी-लखनऊ पैसेंजर ट्रेनकी एक बोगीमें शुक्रवारको रात्रिमें बदमाशोंने रामबाबू नामक रेल यात्रीकी पिटाईकर आठ सौ रुपया लूट लिया।

बताया जाता है कि उक्त व्यक्ति वाराणसीसे बाबतपुर आ रहा था। वाराणसी तथा बाबतपुर स्टेशनोंके बीच लगभग ८-१० की संख्यामें बदमाशोंने उक्त यात्रीकी जेबकी तलाशी की। पैंटकी जेबमें रखे पैसेको निकालते समय जब यात्रीने विरोध किया तो बदमाशोंने उसकी खूब पिटाईकर दी। रेल यात्रीका कहना था कि उक्त बोगीमें मात्र तीन-चार यात्री थे। इनमेंसे किसी ने भी बदमाशोंको पकड़नेकी हिम्मत नहीं की। बदमास लूटपाट करनेके बाद फरार हो गये।

चौरीका भरत मिलाप आज

चौरी बाजारका भरतमिलाप एक नवम्बरको रात्रिमें सम्पन्न होगा। भरत मिलापमें शामिल होने वाले लाग विमानोंको पुरस्कृत किया जायगा। मेला क्षेत्रमें आकर्षक सजावटकी गयी है।

सराफा

...री आवक नगण्य रह... ...चांदीमें वृद्धि

...म्बर। तस्करी आवक ...

सराफा

वाराणसी

वाराणसी ३१ अक्तूबर। स्थानीय बाजारमें आज भाव इस प्रकार रहे—चांदी सिल (प्र. कि.) ५६८०, चांदी प... (प्र.कि.) ५६३०, चांदी सिक्का (प्र. सै...